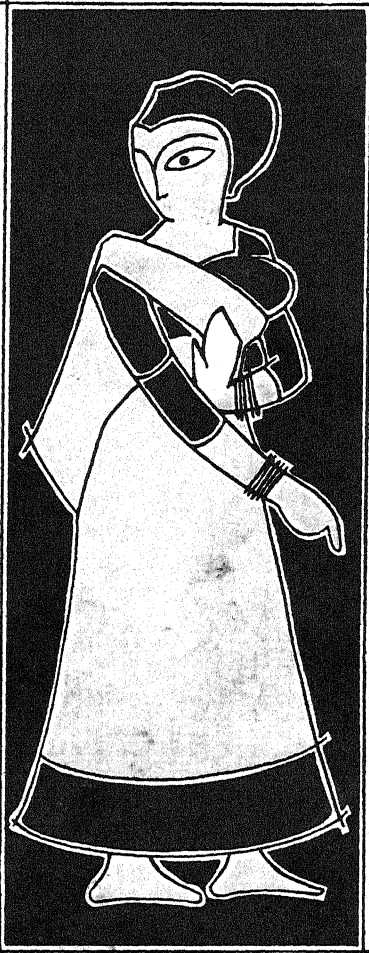

312

M.THAKRE

८१३.३
मन/चा-१

चार दीवारी

मनमोहन मदारिया

चार दीवारी

★

डा० धीरेन्द्र वर्मा पुस्तक-संग्रह

लेखक :
मनमोहन मदारिया

★

प्रकाशक :
लोक-चेतना-प्रकाशन
जबलपुर।

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण, १९५९ : १०००

मूल्य : दो रुपये

लोक-चेतना-प्रकाशन, जबलपुर
द्वारा प्रकाशित

चार दीवारी

★

एक लघु उपन्यास

लल्ली को जो
'चार दीवारी' में क़ैद है !

पाठकों से

'चार दीवारी' प्रथम बार इलाहाबाद के 'उपन्यास' मासिक में प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशन के करीब तीन सप्ताह बाद लेखक को एक पत्र मिला था जो किसी विवाहिता महिला का था, हस्ताक्षर के स्थान में श्रीमती का० श्रीवास्तव लिखा था। उसमें प्रेषिका का पूरा पता नहीं था तथापि डाक की मुहर से स्पष्ट था, वह लखनऊ से भेजा गया था। चूँकि वह पत्र 'चार दीवारी' के सम्बन्ध में है, इस लिए उसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। मूल पत्र अँग्रेजी में है, पुस्तक की भाषा के अनुरूप उसका उल्था यों है :

प्रिय महाशय,

मैंने आपका उपन्यास 'चार दीवारी' अभी-अभी ही पढ़कर समाप्त किया है। जहाँ तक मुझे याद है, मैं आपसे कभी नहीं मिली। मेरे किसी परिचित अथवा सम्बन्धी के मुख से भी आपका जिक्र नहीं सुना। फिर आश्चर्य है, यह कहानी जो मेरी आप बीती है आपको कैसे मालूम हुई ? मैं इसे एक इत्तफाक नहीं मान सकती क्योंकि इसकी हर घटना, हर चरित्र, हर प्रसंग एकदम सत्य है—मैंने भुगता है। मैं आपको, आपके उपन्यास को सत्यता का प्रमाण-पत्र नहीं देना चाहती। मैं तो यह जानना चाहती हूँ कि आपने मुझे, मेरे जीवन को रोशनी में क्यों ला दिया ? किसी भी सम्भ्रांत महिला के लिए क्या यह उचित है ? आप ही सोचिए !.....

भवदीया

मूल पत्र में कुछ बातें और हैं लेकिन उसका आशय समझने के लिए उपर्युक्त अंश ही पर्याप्त है। लेखक पत्र-प्रेषिका को व्यक्तिगत रूप से उत्तर देना चाहता था लेकिन पूरा पता ज्ञात न होने के कारण असमर्थ है। लेखक यहाँ सार्वजनिक रूप से घोषित करता है कि वह लखनऊ की श्रीमती का० श्रीवास्तव से वास्तव में पूर्णतः अपरिचित है। श्रीमती का० श्रीवास्तव को ऐसा भ्रम जाने क्यों हुआ? 'चार दीवारी' को पढ़ने के बाद सम्भवतः पाठक इस भ्रम का निवारण कर सकें। अतएव प्रबुद्ध पाठक अवश्य राय दें।

बाल दिवस, ५६
इन्दौर

—मनमोहन मदारिया

"जिन्दगी को तुम क्या समझते हो·····सीधी-सादी सड़क ?" उत्साहपूर्वक वह बोला।

मैंने कोई जवाब नहीं दिया, एक बुजुर्ग की तरह मैं बस मुस्कराता रहा।

"नहीं", वह उसी भावावेग में बोला, "तुम जिन्दगी को ठीक तरह नहीं समझते। यकीन मानो, जिन्दगी आसमान की तरह है, न जाने कितने अदृश्य रहस्यों से परिपूर्ण।·····"

"और फिर भी निपट कोरी हवा की तरह !" मैंने तपाक् से टीका की।

"शायद तुम ठीक कहते हो", कुछ सोचते हुए वह बोला, "आसमान में क्या है ?·····शायद कुछ नहीं, शायद बहुत कुछ ! लेकिन यह फलसफा छोड़ो, मैं तुम्हें अपनी बात बताता हूँ·····।"

आज जब मैं कैफे पंचशील में आकर बैठा था तब मुझे कतई उम्मीद नहीं थी कि इस बारिश के मौसम में यहाँ कोई परिचित भी मिल जाएगा·····कम से कम इस शानू के मिलने की तो कोई उम्मीद हो भी न सकती थी, वह इधर लगभग दस वर्ष से नहीं दिखा था। उन दिनों जब मैं नागपुर युनीवर्सिटी लॉ कॉलेज में कानून पढ़ता था, तब एक बेहद मौजू युवक से परिचय हुआ था। वह दोहरे शरीर का ऊँचा गोरा-चिट्टा युवक था और बात-बे-बात इस कदर हँसता था कि दीवारें जैसे हिल जाती थीं ! मुझे आश्चर्य होता था क्योंकि जिन परिस्थितियों में वह था, उन परिस्थितियों में तो

आदमी को शुष्क, गम्भीर और चिन्तनशील होना चाहिए। वह दुनिया में एकदम अकेला था। न भाई-बहन थे। न माता-पिता थे। दुनिया में उसका ऐसा ही कोई न था जिसे वह अपना कह सके; लेकिन उसके पास प्रचुर धन था जो उसे पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिला था। हम बहुत शीघ्र अच्छे दोस्त बन गये थे और तब मुझे मालूम हुआ था, प्रथम दृष्टि में वह जितना निश्चिन्त मालूम पड़ता है, वास्तव में उतना निश्चिन्त व्यक्ति नहीं है। चार लोगों की महफिल में रहता तो वह खूब हँसता और हँसाता लेकिन अकेला होने पर एकदम बदल जाता, न जाने क्या कुछ सोचता। उन एकाकी क्षणों के विचार कभी-कभी वह मुझे बताता और कहता, "मैं इन विचारों से दूर रहने के लिए ही महफिल पसन्द करता हूँ।" उसने इसी ख्याल से कॉलेज की पढ़ाई जारी रखी थी, गो उसे इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। न उसे प्रैक्टिस करनी थी, न कोई नौकरी-चाकरी ही। वह कॉलेज आता और चार दोस्तों को लेकर 'कैन्टीन' में जम जाता।

मुझे वह युवक बहुत अच्छा लगा क्योंकि वह एक बढ़िया आदमी था, विश्वसनीय मित्र था। हम कॉलेज में केवल एक वर्ष ही साथ रहे क्योंकि वार्षिक परीक्षा में वह सफल न हो सका और मैं आगे बढ़ गया। इसके बावजूद हमारी मित्रता एक वर्ष और कायम रही। हम इसी कैफे में मिलते थे जो उन दिनों एक छोटा-सा 'टी-स्टाल' था। वह मेरे साथ राजनीति, साहित्य, संस्कृति, कला, दर्शन आदि सभी विषयों पर दिलचस्पी से बहसें करता था। हाँ, प्रेम या औरत के बारे में, जो युवकों की चर्चा का आम मुद्दा होता है, वह शायद ही कभी बात करता था। मुझे उससे बहस करने में विशेष आनन्द आता था क्योंकि बहस के दौरान में वह खिलाड़ी की वृत्ति रखता

और पूरी गम्भीरता से बहस में भाग लेता। उसके साथ वक्त यूँ गुजरता कि मालूम ही न पड़ता।

कानून की परीक्षा देने के बाद एक नौकरी के सिलसिले में मुझे बम्बई जाना पड़ा। स्टेशन पर वह मुझे विदाई देने आया था। उससे विदा होते हुए मेरी आँखें भर आयी थीं; मैंने कहा था, "तुम बहुत प्यारे आदमी हो, मैं तुम्हें और तुम्हारी मित्रता में बिताये क्षणों को कभी भूल नहीं सकूँगा।"

मुस्कराते हुए उसने कहा था, "काश, हममें से कोई लड़की होता!"

"धुत!" उसका संकेत समझकर मैं मुस्कराया था और यों हम विदा हुए।

उस क्षण मैंने यह अवश्य सोचा था कि हम शीघ्र ही फिर मिलेंगे लेकिन संयोग की बात, हम फिर न मिल सके थे। आदमी की पच्चीस से पैंतीस वर्ष की आयु का समय बहुत महत्वपूर्ण होता है, संभवतः इसी समय वह अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त करता है। मैं अपने जीवन के पिछले दस वर्षों पर दृष्टि डालता हूँ तो रोमांचित हो जाता हूँ—कितने संघर्ष, कितना सफर तय कर चुका हूँ! लेकिन मैं इस समय अपनी बात नहीं कहूँगा, मैं तो अपने उस दोस्त की बात कह रहा था जो कॉलेज-जीवन में अभिन्न बन गया था, पर बाद में साथ छूट गया। दो-एक बार मैंने उसे पत्र लिखे और उसके हाल जानने चाहे, लेकिन उसकी ओर से मुझे कभी कोई जवाब नहीं मिला। शायद उसका पता बदल गया था। या शायद वह ऐसा ही लापरवाह था। जो हो, आखिर मैंने उसे पत्र लिखना ही बन्द कर दिया और एक हद तक मैं उसे

भूल गया। उसे पूरी तरह तो मैं कभी भूल ही नहीं सका था क्योंकि वैसा कर सकना मेरे लिए नामुमकिन था। उसकी याद पत्थर की लीक थी और पत्थर की लीकें भी मिटती नहीं हैं। बम्बई में मैं एक अखबार का सम्पादक हो गया था और मैं बहुत व्यस्त रहता था, लेकिन इस व्यस्तता के बीच जब कभी भी अवकाश मिलता, मैं अपने उस दोस्त की याद करता और सोचता, अब वह क्या करता होगा, कितना-क्या बदल गया होगा?

चार वर्ष पूर्व मैं बम्बई की नौकरी छोड़कर नागपुर लौट आया था और यहाँ अपना एक प्रेस स्थापित किया था। नागपुर में आते ही मुझे सबसे पहले अपने उस दोस्त का ही ख्याल आया था और मैंने उसका पता लगाने की कोशिश की थी। लेकिन उसका पता लगाना आसान न था क्योंकि वह कई साल पुरानी बात थी और कॉलेज तो मुसाफिरखाना जैसा होता है, हर साल नये छात्र आते हैं, पुराने चले जाते हैं। मैं हताश हो गया था, पर तभी मुझे हॉस्टेल का एक बूढ़ा चपरासी मिल गया था। उस चपरासी ने अवकाश ग्रहण कर लिया था। सीताबर्डी की रोड पर मुझे देखते ही उसने नमस्कार किया। मैं एकाएक उसे पहिचान नहीं पाया था, लेकिन फिर ख्याल आया, यह तो वही चपरासी है जिसे मेरा वह दोस्त "मेरे एकलौते दादा" कहकर सम्बोधित किया करता था। वह चपरासी अभी तक मेरे उस दोस्त को भूला नहीं था। उसी ने बताया कि वह मेरे जाने के दूसरे ही साल कॉलेज छोड़कर लखनऊ चला गया था। लखनऊ में उसका कुछ कारोबार था और संभव है, उसने अब अपना कारोबार सँभाल लिया हो।

मैं जब से नागपुर लौटकर आया था, मुझे उस दोस्त का ख्याल सदा बना रहता था। आज ही सुभद्रा (जो मेरी पत्नी है)

से मैंने कहा था, "कुछ दोस्तों का साथ छूट जाना बहुत खटकता है, ऐसा ही जैसे जब कोई बेशकीमती नगीना गुम हो जाता है।"

तीन दिन से लगातार बारिश हो रही थी और आज भी बादल छँटे नहीं थे। तीन शामें घर की चारदीवारी में गुजारने के बाद आज रैनकोट लेकर निकल ही पड़ा। मार्ग में जहाँ-जहाँ बारिश का पानी था और हल्की बूँदा-बाँदी हो रही थी। किसी समय मुझे यह मौसम बेहद मनहूस जान पड़ता लेकिन इस समय चूंकि मैं तीन दिन की घुटन के बाद उन्मुक्त वातावरण में आया था, मुझे यह मौसम बड़ा सुहावना, बड़ा प्यारा लगा। मैं किसी गीत की कड़ी गुनगुनाते हुए कैफे में दाखिल हुआ। उस समय यहाँ दो-एक व्यक्ति मौजूद थे। कैफे के रेडियो पर संगीत की हल्की धुन आ रही थी। मैं बीच की बड़ी मेज के करीब पहुँचा, जहाँ ताजे अखबार रखे थे। मैंने एक अखबार उठा लिया और मेज के दूसरे तरफ बैठे उस दुबले-पतले व्यक्ति पर उचटती-सी निगाह डाली। वह मुझे कोई सिंधी मालूम पड़ा। मैंने वहाँ से दृष्टि हटाकर अखबार पर केन्द्रित करना चाहा कि अचानक उस व्यक्ति ने घूरकर मुझे देखा। दूसरे ही क्षण वह एकदम हँस पड़ा। मैं आश्चर्य में था। वह मेरे करीब आया और मेरे कंधे को झकझोरते हुए बोला, "अरे मनु महाराज, खूब मिले।"

ओह, यह वही मेरा पुराना दोस्त था ज्ञानेन्द्र, जिसे मैं ज्ञानू कहा करता था। वह कितना बदल गया था! न वह सेहत रही थी, न चेहरे पर वह ताजगी! मैंने कहा, तू ज्ञानू है, मैं विश्वास नहीं कर सकता गर मेरी आँखें धोखा नहीं दे रहीं।

इसके प्रत्युत्तर में वह जिन्दगी का फलसफा ही ले बैठा और फिर उसने अपनी कहानी सुनाई। मैंने इस कहानी को प्रायः उसी के शब्दों

में, उसी की शैली में रख दिया है। मेरा ख्याल है, किसी व्यक्ति की भावनायें उसी के शब्दों में ही अधिक सच्चाई से अभिव्यक्ति पा सकती हैं क्योंकि तब वे शुद्ध जिह्वा से नहीं अन्तरतम की गहराई से निकलती हैं।

देखो भई, मैं लतीफा या चुटकुला कहना तो जानता हूँ, लेकिन कोई लम्बी-सी कहानी इसके पूर्व मैंने कभी नहीं कही है और मैं नहीं जानता कि इसे ठीक तरह कह भी सकूँगा अथवा नहीं। पर मैं जानता हूँ मुझे यह कहानी किसी से कह अवश्य देनी चाहिए, क्योंकि मैं अपने मस्तिष्क में रात-दिन जो तनाव महसूस करता हूँ, वह शायद किसी से कह देने पर ही हल्का हो सकता है और संयोग से आज तुम मिल गये हो—तुमसे अच्छा श्रोता भला मुझे कहाँ मिल सकेगा!

मेरा ख्याल है कि अक्सर आदमी अंदर वह नहीं होता जो ऊपर दिखता है। मैं किसी दूसरे का उदाहरण नहीं दूँगा, अपनी ही बात कहता हूँ। तुम मुझे क्या समझते हो—एक सतही, निश्चिंत, मौजू आदमी ही न?...न, न, तर्क करने की आवश्यकता नहीं, मैं तो एक आम बात कह रहा हूँ। मेरे बारे में औसत लोगों का यही मत है, पर मैं जानता हूँ यह गलत है। चार लोगों की महफिल में मैं अवश्य हँसता और निश्चिंत रहता हूँ, लेकिन जब कभी अकेला होता हूँ तब बेहद परेशान रहता हूँ, उस समय मैं एक भिन्न ही व्यक्ति होता हूँ, गम्भीर, चिन्तनशील, क्षुब्ध! उस समय मेरे मस्तिष्क में विचारों का ज्वार-सा उठा करता है। विचारों की इस उधेड़-बुन में मैं रात के कई प्रहर जागते गुजार देता हूँ। इन विचारों का आधार, इस चार दीवारी *

चिन्ता की वजह ? ओह, मैं खुद ही कभी नहीं समझ सकता ! उन क्षणों में मैं खुद को अत्यन्त दयनीय और अभावग्रस्त पाता हूँ। वैसे दुनियाँ की दृष्टि में मुझे किसी बात की कमी नहीं है, लेकिन जाने क्यों मैं अपने जीवन में भारी अभाव महसूस करता हूँ—ऐसा अभाव जो मुझे निराशा के भयानक गर्त्त में फेंक देता है। तुम्हें आश्चर्य होगा, शायद तुम मेरी बातों पर एकाएक विश्वास भी न करो लेकिन यह एकदम सही बात है।

अपनी इस मानसिक स्थिति को मैंने एक तटस्थ मनोविश्लेषक की दृष्टि से भी समझने की चेष्टा की और तब मुझे लगा कि मेरी जिन्दगी में आत्मीयों का जो अभाव है, वही शायद इसकी वजह है, उसी के कारण शायद मैं जिन्दगी में अपूर्णता-सी अनुभव करता हूँ। निश्चित रूप से तो अपनी मनोभावनाओं का विश्लेषण कर नहीं सका था क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने प्रति इतना तटस्थ नहीं हो सकता कि स्पष्ट रूप से अपनी मनस्थिति को समझ सके। फिर भी जैसा कि मैंने समझा, आत्मीयों के अभाव की पूर्ति करने की संजीदगी से कोशिश की।

नागपुर में तो मैं केवल तीन वर्ष या ढाई वर्ष—जैसा भी हो, रहा हूँ लेकिन मेरा अधिकांश समय लखनऊ में गुजरा है। वहाँ मैं कई व्यक्तियों के सम्पर्क में आया था जिनमें लड़के भी थे और लड़कियाँ भी। कई लड़के मेरे अच्छे दोस्त बने, बहुत दिनों तक साथ रहा लेकिन ऐसी कोई भी मित्रता अटूट सिद्ध न हुई। मैं नहीं कहूँगा, ऐसे सभी मित्र स्वार्थी थे लेकिन अधिकांश स्वार्थ से प्रेरित होकर ही मेरे करीब आते थे यानी वह मित्रता नहीं थी, स्वार्थ का प्रपंच था ! यही बात मैं उन लड़कियों के प्रति भी कहूँगा जिन्होंने मुझसे घनिष्टता बढ़ाने की चेष्टा की लेकिन उनका स्वार्थ भिन्न किस्म का था और

सम्भवतः उसे स्वाथ कहा भी नहीं जा सकता लेकिन मेरी दृष्टि में भिन्न प्रकार का ही सही, पर है स्वार्थ ही—एक हसीन स्वार्थ ! विवाह के बाजार में मेरा भाव अपेक्षाकृत बहुत अच्छा था और इस कारण उन लड़कियों ने अपने ढंग से कोशिश की कि मैं विवाह के लिए प्रस्तुत हो जाऊँ। वैसे उनका यह इरादा भर्त्सनीय नहीं है और एक दृष्टि से वह मेरे हित में ही था लेकिन जिस वजह वह मेरी ओर आकर्षित होती थीं, वह मेरा व्यक्तित्व नहीं था, मेरी आर्थिक स्थिति ही थी। दो-एक बार तो ऐसी स्थिति आयी जब लोगों ने समझ लिया कि शीघ्र ही मैं विवाह-बन्धन स्वीकार कर लूँगा लेकिन मैं वैसा न कर सका। मैं एक आशंका से ग्रस्त था, उतना अधिक चौकन्ना था जितना ऐसे मामले में नहीं होना चाहिए। मुझे आज भी वे सुन्दर चेहरे याद हैं जो मेरी सहमति के लिए कितने उत्सुक थे लेकिन मैं एक विशिष्ट पृष्ठभूमि में, एक खास दृष्टि से उन चेहरों को देखता और वे मुझे नकली, बेहद कुरूप जान पड़ते। उनकी मुस्कान, उनका शृङ्गार—सब फरेब जान पड़ता। मैं असहमति व्यक्त करता और उन सुन्दर आँखों में आँसू छलक आते, चेहरा स्याह पड़ जाता। मैंने सुना है, औरत के आँसुओं में गजब की ताकत होती है, फौलाद को पिघला देती है वह ताकत ! पर मुझ पर उसका कभी कोई असर न हुआ। और ऐसी स्थिति में आखिर जो होना चाहिए था, एक दिन वही हुआ, मैं बदनाम हो गया। मैं घोर दम्भी और उद्दंड करार दिया गया। मेरे लिए भले घर के दरवाजे बन्द हो गये, शरीफ घर की लड़कियाँ मुझे देखकर मुँह फेरने लगीं !

अजीब-सी परिस्थिति में पड़ गया था मैं उन दिनों। मुझे मालूम भी नहीं हुआ और मेरे खिलाफ गुनाहों का पहाड़ खड़ा कर दिया गया था। तुम मेरी स्थिति को जरा समझने की चेष्टा करो। लड़कियाँ

मुझसे घनिष्टता बढ़ाने की कोशिश करती हैं और यदि मैं उनका घनिष्टता को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ तो इसमें मेरा क्या दोष? लेकिन समाज का न्याय अंधा होता है।

लखनऊ बड़ा उतना शहर है, पर मेरे लिए तो जनशून्य हो गया। इस विचित्र-सी हास्यास्पद स्थिति से बचने के लिए मैं एक गल्ती कर बैठा। मेरी जाति के एक बुजुर्ग अक्सर मेरे पास आया करते थे। पहले तो मैं उनका उद्देश्य मालूम न कर सका था, लेकिन बाद में मालूम हुआ, उनकी कोई नातिन है जो सयानी हो चली थी। मुझे जिस दिन यह मालूम हुआ, उस दिन से ही मैं उनसे कतराने लगा, पर वह भी जीवट के आदमी थे। उन्होंने मेरा पीछा न छोड़ा। उन्हें शायद अपने प्रयत्नों पर अपेक्षाकृत अधिक भरोसा था। दो-एक बार वह मुझे अपने घर भी ले जा चुके थे और मैं उनकी उस नातिन को देख चुका था। शायद उसे यह बतलाया जा चुका था कि मैं उसका भावी पति हूँ। इस कारण वह मुझे देखते ही शर्म से लाल हो जाती और लम्बा-सा घूँघट काढ़ कर मेरी दृष्टि के परे हो जाने की चेष्टा करती लेकिन मैं जानता था, जब तक मैं वहाँ रहता, वह द्वार के ओट में खड़ी रहती और मेरे हर शब्द, मेरी हर हलचल को महसूस करती रहती।

वह पन्द्रह या सोलह वर्ष की मँझोल कद की गोरी-सी लड़की थी और फूहड़ व्यवहार के बावजूद भी सुन्दर कही जा सकती थी। दादाजी की दृष्टि में वह परम गुणवती कन्या थी, रामायण बाँच लेती थी। उसे शायद मेरी ऊँची शिक्षा-दीक्षा का भी ज्ञान था और जिस दिन मेरा वहाँ जाने का कार्यक्रम होता, उस दिन वह विशेष रूप से शृङ्गार करने की चेष्टा करती—महावर और बिंदियों से लेकर रूज और लिपस्टिक तक प्रसाधनों का वह उपयोग करती! उस साज-शृङ्गार में

वह देखते ही बनती थी। वह नायिका का नहीं, विदूषक का शृङ्गार होता है। मुझे दादाजी पर क्रोध होता, लड़की को खामखा परेशान कर रखा है। मैंने दादाजी को अनेक प्रकार से संकेत देना चाहा कि वह आशा के विरुद्ध आशा न रखें, लेकिन उन्होंने समझने की चेष्टा नहीं की। एक बार तो उन्होंने हद कर दी, बेचारी लड़की को मेरे पास जब मैं कमरे में अकेला था, भेज दिया। वह शायद फागुन माह की बात है। होली के चार-पाँच दिन बाद दादाजी के आग्रह के अनुसार मैं उनके घर गया था। मैंने उनके घर पहुँच कर पूछा, "दादाजी कहाँ हैं?" तो एक छोटे लड़के से मालूम हुआ, भीतर हैं—अभी आते हैं। फिर वह छोटा लड़का भी गायब हो गया और मैं बैठकखाने में एकदम अकेला रह गया। मैं एक आराम-कुर्सी पर बैठकर दादाजी की प्रतीक्षा करने लगा, लेकिन देर तक वह आते न दिखे। आखिर मैं वहाँ से जाने का विचार करने लगा।

इसी समय कमरे का परदा उठा और मेरे सामने वह लड़की खड़ी हो गयी। उस समय मुझे वह एक तस्वीर की तरह लगी, वैसी ही दमकती हुई लेकिन वैसी ही मूक, जड़वत्! होली के दिन उसने शायद खूब रंग-गुलाल खेला था क्योंकि सारे शृङ्गारिक प्रसाधनों के बावजूद भी उसके शरीर पर जहाँ-तहाँ होली के रंगों के हल्के-गहरे छींटे मौजूद थे। वह उस समय झीने वस्त्र पहने थी, और उन वस्त्रों में से उसके तरुण सुडौल शरीर का आकर्षण फूटा पड़ रहा था। उस दिन का उसका वह सारा शृङ्गार प्रयोजनपूर्ण था एक तेज हथियार की तरह। गल्ती यह हुई थी कि वह हथियार सही हाथों में नहीं पड़ा था। संभवतः उस क्षण वह लड़की, जिसका नाम रत्ना था, असमंजस में पड़ गयी थी और सारी सीखी हुई बातें भूल गयी थी। उसके लिए यह स्वाभाविक ही था। क्योंकि उसके जीवन में शायद वह पहला ही

मौका था जब वह किसी पराये युवक के सामने घूँघट के बिना पहुँची थी। इस परेशानी की अवस्था में उसे यह भी ख्याल नहीं था कि वह चाय की ट्रे लिये है जो ठंडी हो रही थी। आखिर मैंने ही उसे उस स्थिति से मुक्त किया, कहा, "ट्रे मेज पर रख दीजिए!"

"जी" फिर एकाएक कर्त्तव्य-बोध हुआ, तो होंठ मरोड़ते हुए वह बोली, "जी बड़ी भूल हुई।"

छोटी मेज पर चाय की ट्रे रखकर वह अनभ्यस्त हाथों से चाय बनाने लगी। उसके हाथ में चाय की केतली काँप रही थी और मुझे भय हुआ, केतली छूट न जाए। मैंने कहा, "आप कष्ट न कीजिए। मैं चाय बना लूँगा। आप जाकर दादाजी को भेज दीजिए।"

उसने चाय की केतली रख दी और मुक्ति की साँस लेते हुए कहा, "जी, बहुत अच्छा!"

जब तक वह कमरे से चली नहीं गयी, मैं शङ्कित ही रहा। मैंने उसको जाते हुए देखा। पैरों में वह ऊँची ऐड़ी के जूते पहिने थी और उसके पैर उल्टे-सीधे पड़ रहे थे। दो-एक बार तो वह लड़खड़ायी भी, लेकिन संयोग-वश कोई अस्वाभाविक घटना नहीं हुई।

उसके जाते ही दादाजी कमरे में दाखिल हुए। वह मुस्करा रहे थे। शायद उन्हें विश्वास था कि इस बार मैदान मार लिया है, लेकिन ज्योंही उनकी निगाह चाय की 'ट्रे' पर पड़ी, मुस्कान विलीन हो गयी, चिंतित होकर वह बोले, "क्यों, क्या बात है? रत्ना ने चाय नहीं बनायी?" और ऊँची आवाज में पुकारा, "बिटिया....।"

मैंने किसी तरह एक हास्यास्पद दृश्य तो टाला था, दूसरा उपस्थित होने को हुआ तो घबराया, जल्दी से कहा, "उसे कष्ट देने की

जरूरत नहीं है, दादाजी, मैं खुद ही चाय बना लूँगा·····दरअसल मैं अपने हाथ की बनायी चाय ही ज्यादा पसन्द करता हूँ।"

दादाजी शायद परिस्थिति भाँप गये, उन्होंने बस यही कहा, "अच्छा!"

इस घटना के बाद मेरा ख्याल था कि दादाजी मुझसे उम्मीद रखना छोड़ देंगे, लेकिन मेरा यह ख्याल गलत साबित हुआ, दादाजी भिन्न ही तत्वों के बने थे। जिन दिनों समाज में मेरी अत्यन्त उपेक्षा की जा रही थी, उन दिनों भी वह बराबर मुझसे मिलते रहे। इधर उन्होंने जाहिर करना शुरू कर दिया था कि उनकी भतीजी के विवाह की बातें मेरे साथ तय हो गयी हैं, शीघ्र ही विवाह-संस्कार होगा।

"पर कब?" लोग पूछते और उनका मखौल उड़ाते।

दादाजी लोगों की छींटा-कशी की परवाह न कर कहते, "देख लेना!"

एक दिन मैं अपेक्षाकृत अधिक क्षुब्ध अवस्था में था—उन दिनों वैसे भी जिन्दगी बहुत मनहूस हो गयी थी। दादाजी आए और हमेशा की तरह ही गंभीर मुद्रा बनाकर मेरे सामने बैठ गए। मैंने एक क्षण घूर कर उन्हें देखा। वह हँस दिए। न जाने मुझे क्या हुआ, मैं खीझ उठा, बोला, "दादाजी आप मुझे क्यों परेशान करते हैं? आप जानते हैं मैं....."

"मैं सब-कुछ जानता हूँ, बेटा! लेकिन अभी तक इसी अवसर की प्रतीक्षा में था कि तुम ही अपनी ओर से प्रसंग उठाओ!" स्नेहार्द्र वाणी में उन्होंने कहा, "तुम हाँ कह दो, बाकी बन्दोबस्त मैं कर दूँगा।"

ओह, यह बूढ़ा खूसट कभी दूसरी बात समझने की कोशिश नहीं करेगा, मैंने सोचा और उसी क्षण मेरे मस्तिष्क में एक बिल्कुल नया विचार आया। मैं नहीं कह सकता कि आखिर वह मुझे क्यों सूझा जब कि उस क्षण के पूर्व तक मैं उसके विपरीत विचार रखता था। शायद इसकी वजह उस समय की मेरी सामाजिक परिस्थिति थी जो मैंने दादाजी से कह दिया, "क्या आप बहुत जल्दी यानी इसी माह के अंत तक यह कार्य निबटा देंगे?"

दादाजी का चेहरा प्रसन्नता से चमक उठा, आनन्द-विभोर होकर वह बोले, "बेटा, जुग-जुग जियो, हम कब से तैयारी किये बैठे हैं। बस तुम्हारा मुँह जोह रहे थे। तुमने कह दिया, अब देखो.....।"

मुझे बाद में महसूस हुआ, मैं कितनी बड़ी गल्ती कर बैठा था, लेकिन अब दूसरा उपाय ही क्या था? पहले शुभ मुहूर्त में ही दादाजी ने पाणि-ग्रहण संस्कार का कार्यक्रम नियोजित कर दिया। दादाजी दोनों पक्षों की ओर से व्यवस्था कर रहे थे। मैं हत-बुद्धि-सा देखता रहा और विवाह की रस्में प्रारंभ हो गयीं। आँगन में शहनाई के स्वर गूँजने लगे, मित्रों और परिचितों का जमघट जुट गया। अपनी अनिच्छा के बावजूद मुझे विवाह के सब रस्मोरिवाज में भाग लेना पड़ रहा था। मैंने समझ लिया था, यही भाग्य है। लेकिन ज्यों-ज्यों पाणि-ग्रहण का मुहूर्त करीब आता जा रहा था, मेरी बेचैनी भी त्यों-त्यों बढ़ती ही जा रही थी। आँखों की नींद उड़ गयी थी। मुहूर्त के एक दिन पूर्व मैं इस बेचैनी की हालत में ही घर से चल पड़ा। दोपहर का वक्त था, लेकिन किसी ने यह ख्याल नहीं किया कि मैं कहाँ जा रहा हूँ। मैंने भी कोई पूर्व योजना नहीं बनायी थी। मुझे तो तब भान हुआ, जब मैं एक ट्रेन में बैठ चुका था और हर क्षण लखनऊ से दूर हटता जा रहा था।

* चार दीवारी

उस समय मेरे मस्तिष्क में कोई विचार नहीं था। मैंने यह भी समझने की चेष्टा नहीं की कि मेरे इस तरह चले आने का क्या परिणाम हो सकता है। यह बात यदि मैंने गम्भीरतापूर्वक सोची होती तो मेरी आत्मा ऐसा दुस्साहस करने की स्वीकृति न देती। जैसे-जैसे ट्रेन नये स्टेशनों से गुजरती जाती, मैं भीतर मुक्ति का सुख अनुभव करता जाता, उन्मुक्त पक्षी की उड़ानों का सुख!

बाद में जब मैं अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ अवस्था में हुआ, तब मैंने सारी घटना पर गंभीरतापूर्वक विचार किया और तब मुझे लगा कि मैं साधारण ढंग पर कैसा असाधारण कदम उठा चुका हूँ। मैंने झाँसी स्टेशन पर ट्रेन बदल दी थी और मैं अब नागपुर जानेवाली ट्रेन में था। इरादा था, कुछ दिन नागपुर में रुकने के बाद भ्रमण पर निकल जाऊँगा। बीना स्टेशन पर मैंने अखबार खरीदा। दूसरे दर्जे के उस कम्पार्टमेंट में उस समय केवल तीन यात्री थे—मेरे अलावा एक प्रौढ़ दुबले-पतले व्यक्ति और दूसरी कोई पारसी महिला।

मैं अखबार को सरसरी निगाह से देख रहा था। मेरी दृष्टि एक विज्ञापन पर पड़ी और मैं चौंक गया। सच मानिये, मैंने इस बात की कल्पना भी नहीं की थी, जो किसी भी समझदार आदमी को पहले ही इस अवसर के लिए तत्पर रहना चाहिए था। विज्ञापन मेरे ही सम्बन्ध में था। जरूर ही वह विज्ञापन रत्ना के दादाजी ने अखबारों में दिया था। अखबारों में मेरा फोटो छपा था और मेरा पता बताने के लिए एक हजार रुपये का इनाम घोषित किया गया था। अब मुझे ख्याल आया,

दादाजी चुप बैठने वाले आदमी नहीं हैं। उन्होंने यह मामला, पुलिस को दिया होगा और इस स्थिति में मेरी खोज सबसे पहले नागपुर में ही होगी क्योंकि दादाजी को मालूम था कि मैं नागपुर में रह चुका हूँ। नागपुर में मैं पकड़ा जा सकता हूँ और उसके बाद मेरी जो दशा होगी, जो असह्य अपमानजनक स्थिति होगी—उसकी कल्पना मात्र से मैं सिहर उठा। ट्रेन किसी छोटे-मोटे स्टेशन पर रुकी थी और मेरा सहयात्री वह दुबला-पतला व्यक्ति वहाँ उतर रहा था। उसके साथ ही मैं वहाँ उतर गया।

वह एक बहुत छोटा-सा अप्रसिद्ध-स्टेशन था, पवारखेड़ा। उस सहयात्री से यदि मेरा परिचय न होता तो मैं सचमुच बहुत परेशानी में पड़ सकता था। दीक्षितजी दिल्ली से आ रहे थे और झाँसी स्टेशन पर ही मैं उनसे परिचित हो गया था। वह एक सुशिक्षित व्यक्ति थे, बातचीत से काफी विद्वान् जान पड़े। वह साधारण कद के साँवले-से व्यक्ति थे। प्रथम दृष्टि में वह किसी भी प्रकार प्रभावशाली नहीं प्रतीत होते थे लेकिन उनसे कुछ ही क्षण बातचीत करके कोई भी व्यक्ति समझ सकता था, वह एक कर्मठ और कल्पनाशील व्यक्ति हैं। नर्मदा के किनारे उन्होंने कुछ जमीन ले ली थी और एक वीरान जगह को अपने ढंग से आबाद करने के लिए वह प्रयत्नशील थे। स्टेशन पर उनको ले जाने के लिए बैलगाड़ी आई थी। मुझसे उन्होंने पूछा, "आप कहाँ जायेंगे?"

"कोई खास जगह तो जाना नहीं है", मैंने कहा, "यूँ ही घूमने-फिरने के लिए उतर गया हूँ।"

"तो फिर मेरे साथ ही चलिए।"

मैं उनके साथ ही बैलगाड़ी में बैठ गया। रास्ता कच्चा था और फासला करीब छः मील का था। दीक्षितजी अपनी योजना बता रहे थे, किस प्रकार वह एक अनूठी बस्ती बसायेंगे। उनकी वह योजना दिलचस्प थी और मुझे आश्चर्य हो रहा था कि इस आदमी को आखिर यह धुन कैसे जाग गयी है ?

हम जब उनके मुकाम पर पहुँचे तो साँझ घिर आई थी और साँझ के झुटपुटे में मैं ठीक तरह समझ नहीं सका कि वह कैसी जगह है। एक झोपड़े में से हल्की-सी रोशनी आ रही थी और चारों तरफ अँधेरा व खामोशी थी।

दीक्षित ने मुझे जहाँ ठहराया, वह एक बड़ा-सा कमरा था जो टट्टों और टिन को घेरकर खड़ा किया था। उसके एक कोने में अनाज से भरे बोरे रखे थे और खेती-बाड़ी के कुछ औजार भी रखे थे। वह कमरा शायद गोदाम की तरह उपयोग किया जाता था। दीक्षित ने मेरा आतिथ्य पूरी तत्परता से किया लेकिन उनके किसी भी व्यवहार में प्रदर्शन का भाव नहीं था, सब अत्यन्त सादगीपूर्ण ! भोजन भी सादा ही था—रोटियाँ, भाजी और मठा !

मैं थका-माँदा तो था, खाट पर गिरा तो ऐसा सोया कि कुछ होश-हवास न रहा। दूसरे दिन सुबह मैं जागा, तो बहुत धूप निकल आई थी। मैंने दीक्षितजी से कहा, "पंडितजी, आपने मुझे जगाया नहीं। देखिए, कितनी देर हो गयी ?"

मुस्कराते हुए वह बोले, "जवानी की नींद ऐसी ही होती है !"

"नई रचना" (दीक्षितजी ने उस जगह का यही नामकरण किया था।) में रहते हुए मुझे करीब एक सप्ताह हो गया। वह वीरान जगह

अवश्य थी लेकिन एकदम नीरस नहीं थी। वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य मनोरम था। मील भर के फासले पर ही नर्मदा बहती थी। उसके किनारे बैठकर मैं डूबते सूर्य का दृश्य देखा करता। नदी पर नावें चलती थीं और कभी-कभार मैं भी नौका-विहार का आनन्द ले लेता।

दीक्षितजी किसी काम से इटारसी गये हुए थे और मैं जरा जल्दी ही नर्मदा की ओर घूमने निकल आया था। मैं अपने ही खयालों में डूबा हुआ घाट की ओर बढ़ रहा था कि मेरी दृष्टि उस महिला पर पड़ी जो नदी के किनारे एक बड़े से पत्थर पर बैठी हुई थी। वह उस समय एक सफेद साड़ी और लम्बी आस्तीन का ब्लाउज पहिने हुए थी। मैं उसे पहिचान गया। दो-तीन बार वह मुझे रास्ते में लौटती हुई दिखी थी। एक क्षण के लिए मैं पशोपेश में पड़ गया लेकिन दूसरे ही क्षण अपनी जिज्ञासा से प्रेरित होकर उसकी ओर बढ़ गया।

वह शायद अपने ही विचारों में खोयी हुई थी और जब तक मैं उसके बिल्कुल करीब न पहुँच गया, उसे एहसास न हुआ। मुझे सामने देखकर वह चौंक-सी गयी और साड़ी का आंचल सम्भाल कर उठ खड़ी हुई।

"माफ कीजिए", मैंने कहा, "मैंने शायद आपको कष्ट पहुँचाया। मेरा इरादा यह नहीं था, मैं तो····"

उसने मुड़कर मेरी ओर देखा और कहा, "कोई बात नहीं।"

उसकी आवाज मधुर थी। मैंने कहा, "देखिए, मैं दूसरी जगह बैठ जाऊँगा, आप मेरे कारण····।"

"नहीं, नहीं यह बात नहीं है। वैसे भी मेरे जाने का समय हो गया है।" और उसने उचटती-सी निगाह अपनी "रिस्ट वॉच" पर डाली।

"आपको शायद यह जगह बहुत पसन्द है", मैंने कहा।

"हाँ, शायद बहुत पसन्द है। मैं रोज ही यहाँ आती हूँ और जिस दिन नहीं आती, तबीयत बेचैन हो जाती है", कहते हुए उसकी आँखें चमक उठी थीं। वह कितने ही क्षण मूक खड़ी रही फिर एका-एक उसे ख्याल हुआ तो कहा, "लेकिन अब इजाजत दीजिए। चलती हूँ। नमस्कार।" और वह तेजी से चली गयी।

मुझे वह एक अजीब-सी महिला प्रतीत हुई थी क्योंकि उस वीरान इलाके में किसी शिक्षित युवती के यों अकेले घूमने-फिरने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। मैं उसकी वेश-भूषा और बातचीत से उसके बारे में कोई भी अनुमान करने में असमर्थ था और जितना भी उसके बारे में मैं सोचता था, उतना ही उलझन में पड़ जाता था।

यूँ उस महिला में कोई आकर्षण नहीं था। वह सांवली-सी युवती थी जो छरहरे डील-डौल की वजह मुश्किल से सत्रह-अठारह वर्ष की दीखती थी लेकिन उसकी आयु संभवतः अधिक ही थी। उसके चेहरे पर कठोरता का भाव था जो निश्चय ही उसकी संयमित जिन्दगी का आवश्यक प्रतिफल था, आन्तरिक भावनाओं का प्रतिबिम्ब नहीं। हाँ, उसके चेहरे में आँखें अवश्य आकर्षक थीं। वे बड़ी-बड़ी सुडौल आँखें थीं जिनमें सदा एक चमक रहा करती थी जो उसके आन्तरिक व्यक्तित्व की उच्चता को स्पष्ट करती थी।

दूसरे दिन शाम को मैं नदी-किनारे घूमने गया तो हर क्षण उससे मिलने की उम्मीद करता रहा, पर शायद मैं विलम्ब से वहाँ पहुँचा था, वह दिखाई नहीं दी। मैं व्यग्र रहा। सारा नैसर्गिक सौन्दर्य फीका, बेरंग, आनन्द-शून्य जान पड़ा। मैं नहीं कह सकता, ऐसा क्यों हुआ। शायद उस एकाकी जीवन में मुझे किसी समवयस्क साथी की आवश्यकता थी, या शायद...लेकिन नहीं वह ऐसी आकर्षक नहीं थी, जो मैं

इस क्षणिक परिचय से ही उसके प्रति आसक्त हो जाता। मैं हर शाम को उसकी प्रतीक्षा करता, और इस प्रतीक्षा के साथ ही मेरी अशांति बढ़ती जाती। मुझे अब उस सामान्य-सी युवती में एक स्वप्निल सौन्दर्य की झाँकी दृष्टिगत होने लगी। वह मुझे दो-तीन दिन तक नहीं दिखी। आखिर मैंने सोचा, एक साधारण से परिचय को अधिक महत्व देने की क्या आवश्यकता? मुझे उसका ख्याल अपने मस्तिष्क से हटा देना चाहिए।

'नई रचना' में अब चैत्र की ग्रीष्म पड़ने लगी थी, दोपहर को हल्की लू भी चलती थी। वह खुली जगह थी—दिन को खूब गर्मी रहती, रात्रि को उतनी ही शीतल हो जाती। ग्रीष्म से बचने के लिए वहाँ कोई कृत्रिम साधन नहीं थे, न खस की टट्टियाँ थीं, न ही बिजली के पंखे, ठंडे पेय आदि। दीक्षितजी उन दिनों खलियान के कार्यों में व्यस्त थे। गाहनी-उड़ावनी हो रही थी, अनाज और भूसा ढोया जा रहा था। उन कार्यों में मैं अभ्यस्त नहीं था और इस कारण मेरा वहाँ कोई उपयोग नहीं था। इस स्थिति में मैंने दीक्षितजी से कहा, "पंडितजी, अब आज्ञा दीजिए, मैं जाऊँगा।"

वह जैसे इसके लिए तैयार नहीं थे, बोले, "क्यों, क्या यहाँ मन नहीं रमता?"

"नहीं, यह बात नहीं। लेकिन बात ये है, मेरे यहाँ रहने से कोई लाभ तो नहीं है, उल्टे मैं बोझ अवश्य हूँ।"

"आह, तुम मुझको अभी तक नहीं समझे।" दीक्षितजी ने मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, "मैंने आदमी को कभी बोझ नहीं समझा।

तुम यह क्यों नहीं समझते कि तुम्हारे साथ होने से मैं कितना उत्साह महसूस करता हूँ।"

साँझ का वक्त था। खलियान से हलवाहे बिदा हो चुके थे, बैल ढोले जा चुके थे। खाट पर चित्त लेटते हुए और आसमान की ओर देखते हुए दीक्षितजी ने कहा, "ज्ञानेन्द्र, तुम समझते हो, मैं एकाकी जीवन पसन्द करता हूँ, मैं मशीन हूँ। लेकिन यह गलत है, एकाकी जीवन तो मेरी लाचारी है, मुझे विवश होकर ही यह स्वीकार करना पड़ा है। तुम्हें मेरी पूर्व जिन्दगी का ज्ञान नहीं है। मैं कभी दिल्ली में था। वहाँ एक फर्म का मैनेजर था, काफी पैसा मिलता था लेकिन उसके बावजूद मुझे सुख-शांति रही हो, सो बात नहीं। दिन-रात मेरे सिर पर एक भारी जिम्मेवारी का बोझ लदा रहता था और मेरे काम में लेश-मात्र भी शिथिलता आ जाने पर सेठ मुझे नौकरी से हटा सकता था। मैं एक बहुत बड़े शहर में था और मैं तुमको बताऊँ, शहर जितना बड़ा होता है, उतना ही वह गंदा, उतना ही मुसीबतों से भरा हुआ होता है। मैं दिल्ली में दस साल रहा लेकिन मैं नहीं जानता, मैंने एक दिन भी वहाँ निश्चिन्त बिताया हो। मैं एक घनी बस्ती में रहता था और उन दिनों पत्नी को हल्का-सा बुखार रहा करता था। मैंने उस बुखार को कभी गंभीरतापूर्वक समझने की चेष्टा नहीं की, या यह कहूँ, मुझे उसे समझने के लिए मौका ही नहीं मिला। और एक दिन ऐसे ही मेरी पत्नी चल बसी। जब यह समाचार मुझे मिला, तब मैं फर्म में था। मैंने उस समाचार पर एकाएक विश्वास नहीं किया, लेकिन वह सही था। मैं घर आया। बिस्तर पर जवान पत्नी का निर्जीव, निस्पन्द शरीर पड़ा था। उस समय मेरी उम्र केवल पैंतीस वर्ष की थी और मैं चाहता तो दूसरा विवाह कर लेता लेकिन मैंने वह नहीं किया। मैं अपने को कभी क्षमा नहीं कर सका। मुझे बाद में हर समय

यह खटकता रहा कि यदि मैंने थोड़ी भी सावधानी बरती होती तो मेरी पत्नी उस उम्र में यूँ न मरती, मैं ही उसका हत्यारा था।"

दीक्षितजी के साथ ही मैं भी खाट पर लेट गया था। आसमान में तारे छिटक आए थे और हम उन तारों को एकटक देख रहे थे।

कुछ देर बाद दीक्षितजी बोले, "लेकिन मैं तुम्हें अपनी वजह रोकना नहीं चाहता। तुम्हें शायद अपना कोई काम होगा। तुम कब जाओगे?"

"मुझे कोई महत्वपूर्ण काम नहीं है, मैं जल्दी नहीं जाऊँगा।"

दीक्षितजी ने मुझे बाहों में भर लिया और बोले, "देखो, झूठ बोल रहे हो। मैं नहीं चाहता, मेरी वजह तुम्हारे प्रोग्राम में दखल पड़े। मैं ऐसा स्वार्थी नहीं हूँ। तुम जाओ, संकोच मत करो।"

दीक्षितजी की इस स्वीकृति के बावजूद मैं वहाँ से जा न सका। मैंने दीक्षितजी को समझाया कि वास्तव में मुझे ऐसा कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं है कि मैं शीघ्र रवाना होऊँ। उस दिन के बाद मैं दीक्षितजी के कार्यों में अपेक्षाकृत अधिक रुचि लेने लगा और प्रायः हर समय दीक्षितजी के साथ ही रहता था। नर्मदा के किनारे शाम को घूमने का कार्यक्रम भी अब अनियमित हो गया था। मैं यदा-कदा ही वहाँ पहुँचता था। यों मुझमें धीरे-धीरे उल्लेखनीय परिवर्तन होता जा रहा था। मैं उन दिनों भविष्य की चिंताओं से मुक्त होकर अपनी वर्तमान जिन्दगी में ही एक कर्मठ व्यक्ति की तरह रम गया था।

रविवार का दिन था और प्रशिक्षण विद्यालय में एक विदाई-समारोह था। यह प्रशिक्षण विद्यालय "नयी रचना" से डेढ़-दो मील के फासले पर ही है। वह एक सरकारी संस्था है और वहाँ ग्राम-सेविकाओं को नियुक्ति के पूर्व प्रशिक्षण दिया जाता है। उस वार्षिक-समारोह में दीक्षितजी को विशेष अतिथि के रूप में निमंत्रित किया गया

था। मैं भी उनके साथ समारोह में उपस्थित था। प्रशिक्षण विद्यालय की जो पदाधिकारी-महिलाएँ हमारे स्वागत के लिए उपस्थित थीं, उनमें एक चेहरा मुझे परिचित मालूम पड़ा। हाँ, यह वही महिला थी, जिसे मैंने नर्मदा के किनारे देखा था। इस समय भी वह सफेद साड़ी और लम्बी आस्तीन का सफेद ब्लाउस ही पहिने थी और मुझे उसे पहिचानते देर नहीं लगी; लेकिन शायद वह मुझे पहिचान नहीं पायी थी या शायद उसने मुझे पहिचानकर भी यह जाहिर किया था कि वह मुझसे अपरिचित है। मंच पर वह मेरी करीब की कुर्सी पर बैठी थी और मैंने इस बात की कोशिश की कि वह मुझे पहिचान सके। मैंने धीमी आवाज में उससे कहा, "शायद आप भूल गयी हैं, हम एक बार पहले मिल चुके हैं।"

लेकिन उसने कोई जवाब नहीं दिया। अब मैं समझा कि वह जानबूझ कर उपेक्षा का रुख रखे है और वास्तव में वह मुझे पहिचान चुकी है। मैं उसके इस बर्ताव को समझ नहीं सका और अब तक उसके प्रति मेरे हृदय में जो उदार विचार थे, वे बदल गए। मैंने समझ लिया कि वह एक दम्भी और असभ्य लड़की है। मैं उस समय बहुत अशान्त था और समारोह में उपस्थित न रहना चाहता था लेकिन मुझे समारोह में पूरे समय उपस्थित रहना पड़ा, क्योंकि दीक्षितजी को छोड़कर मैं जा नहीं सकता था। वैसा करना ठीक नहीं होता। मुझे अपनी अनिच्छा के बावजूद उस व्यक्ति के करीब जिसे एक प्रकार से मैं घृणा करने लगा था, बैठा रहना पड़ा। मैं जिन्दगी में सदा मुक्त प्राणी रहा हूँ और कभी भी मैंने अपनी इच्छा के प्रतिकूल कार्य नहीं किया। वह मेरी जिन्दगी का अनोखा प्रसंग था।

कामिनी प्रशिक्षण विद्यालय की अधीक्षिका थी। उसका पूरा परिचय मुझे इसी अवसर पर हो सका था। मैं नहीं समझता, वह उस

समय किसी प्रकार भी विचलित हुई—थी कम-से-कम वह विचलित दृष्टिगत नहीं होती थी। उसने पूरी तन्मयता एवं शान्ति से विद्यालय के सम्बन्ध में प्रास्ताविक भाषण दिया और उसी प्रकार अन्त में आभार व्यक्त किया। दीक्षितजी का भाषण महत्वपूर्ण था। मैंने उन्हें पहली ही मर्तबा मंच पर भाषण देते सुना था। वह स्वाभाविक लहजे में बोले लेकिन उनके शब्द वजनदार थे क्योंकि उनके साथ व्यावहारिक अनुभवों की ताकत थी। वह एक घंटे तक धारा-प्रवाह बोलते गए और उन्होंने वातावरण में एक समा-सा बाँध दिया था। उनके भाषण का विषय था, ग्राम-विकास का व्यावहारिक निदान। दीक्षितजी ने यही सुझाव दिया था कि इसके लिए अथक श्रम और हार्दिक अनुराग की आवश्यकता है। सिखाये पूत दरबार नहीं चढ़ सकते! यदि आज ग्राम-विकास का कार्य उस तेजी से नहीं हो पा रहा है, जिस तेजी से वह अपेक्षित है, तो इसकी वजह यह है कि इस क्षेत्र में आज जो कार्यकर्ता हैं, उनमें इस कार्य के प्रति हार्दिक अनुराग का सर्वथा अभाव है। अपने कार्य के प्रति हार्दिक अनुराग न होने के कारण ही वे अथक श्रम नहीं कर पाते और इस प्रकार इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो रही है।

समारोह सुबह आठ बजे प्रारम्भ हुआ और समाप्त होने तक लगभग ग्यारह बज गये थे। धूप सिर पर आ गई थी। हमें "नयी रचना" तक पहुँचाने के लिए विद्यालय की जीप गाड़ी आ गयी थी। हम गाड़ी में बैठने को हुए, तो दीक्षितजी को जाने अचानक क्या ख्याल हो आया जो कामिनी को सम्बोधित कर वह बोले "तुम हमारे मेहमान से परिचित हो या नहीं? ये हैं ज्ञानेन्द्र!"

कामिनी ने मुझे नमस्कार किया और धीरे में वह बोली "जी, मैं इन्हें पहिचानती हूँ। हम एक बार पहले मिल चुके हैं।"

उसने जिस सहज ढंग से यह स्वीकार किया, उससे मुझे आश्चर्य हुआ। सम्भवतः मैं उम्मीद कर रहा था कि वह इस बार भी अपरिचित होने का ढोंग करेगी, लेकिन·····

दीक्षितजी ने मुझसे कहा, "जानते हो ज्ञानेन्द्र, यह भी उत्तर प्रदेश की रहनेवाली हैं।"

"किस शहर की ?" मैंने पूछा।

"कानपुर !" कामिनी ने बताया।

"मैं लखनऊ का रहनेवाला हूँ।" मैंने कहा, "आपने लखनऊ देखा है ?"

"हाँ, एक-दो बार वहाँ जा चुकी हूँ। वहाँ हमारे चाचाजी रहते थे ?" उसने कहा।

"यानी अब नहीं रहते", मैंने पूछा।

"क्या पता ?" उसने कहा।

"बड़ी विचित्र बात है।" मैं कुछ और कहने जा रहा था लेकिन दीक्षितजी जीप गाड़ी में बैठ चुके थे और गाड़ी स्टार्ट की जा चुकी थी। मैं उछलकर दीक्षितजी के बाजू में जा बैठा। जीप गाड़ी रवाना हो गयी।

राह में मैंने दीक्षितजी से कामिनी का प्रसंग छेड़ा तो वह बोले, "अजीब लड़की अवश्य दिखती है लेकिन जब तुम उसे ठीक तरह जान जाओगे तो वह एकदम सीधी-सादी मालूम होगी" फिर कुछ देर रुककर वह बोले, "यह कामिनी बहुत काबिल लड़की है। संस्था में रहने वाली लड़कियाँ उसे बड़ी दीदी कहती हैं। इसका व्यवहार उनके प्रति ऐसा ही स्नेहपूर्ण होता है। संस्था की अधीक्षिका होने के बावजूद वह सबकी आत्मीया है।"

हम दोपहर को लगभग बारह बजे "नयी रचना" पहुँचे। पिछले कुछ दिनों से मेरे जीवन में एक मशीन की तरह एकरसता आ गयी थी, वह उस दिन टूट गयी। मैं उस दिन स्वयं को विशेष रूप से उत्साहपूर्ण अनुभव कर रहा था। वैसे मैं दोपहर को आराम करता था लेकिन उस दिन दोपहर को मैं खलियान गया। मुझे देखते-ही दीक्षितजी बोले, "तुम यहाँ कैसे आ गये भाई ?"

"मैं भी सबके साथ काम करूँगा।"

"लेकिन मुझे डर है, कहीं तुम बीमार न पड़ जाओ।"

"मैं बीमार नहीं पड़ूँगा।"

दोपहर भर मैं खलियान का काम करता रहा। बैलगाड़ियों में अनाज भरवाया और बैलों को हाँकता हुआ गोदाम तक ले गया। उस दोपहर मैंने जिन्दगी में पहली बार इतना कठोर श्रम किया था और फिर भी मैं थका नहीं था। साँझ घिर गयी तो मैं नदी की ओर चल पड़ा। आज बहुत दिनों बाद नदी की ओर जा रहा था।

हर क्षण साँझ का अँधेरा बढ़ता जा रहा था और मुझे आश्चर्य था, मैं इतना उत्सुक, इतना प्रफुल्लित क्यों हूँ। मैं अपने उत्साह में बहुत तेजी से जा रहा था। अब मैं उस बात पर विचार करता हूँ तो मुझे अनुभव होता है, उस समय मेरे हृदय में यह आशा अवश्य थी कि आज नदी के किनारे कामिनी अवश्य मिलेगी।

नर्मदा की कल-कल ध्वनि सुनायी पड़ने लगी थी और उसके साथ ही किसी गीत की करुण स्वर-लहरी गूँज रही थी। सूर्य की अंतिम किरण आसमान से विदा हो चुकी थी और मुझे महसूस हुआ यह कामिनी ही गा रही है।

* चार दीवारी

सामने पहाड़ी थी और उसके उस तरफ नर्मदा की घाटी थी। मैं जब पहाड़ी पर चढ़ गया तो चाँदी की रेखा की तरह नर्मदा का मनोरम दृश्य आँखों के सामने स्पष्ट हो गया। अब गीत की धुन तेज हो गयी थी और मैं गायिका को देख सकता था। वह एक नाव पर बैठी थी और उसके साथ किशोर वय की अनेक लड़कियाँ थीं। गायिका का चेहरा मेरी ओर नहीं था, तथापि मैं पहिचान गया, मेरा अनुमान ठीक है—वह कामिनी ही थी।

मैं वहीं पहाड़ी की एक शिला पर बैठ गया। वहाँ से कामिनी की नाव एक छोटी-सी किश्ती जैसी दिख रही थी और उसी अनुपात में उसमें बैठी लड़कियाँ भी छोटी-छोटी पुतलियाँ दिख रही थीं। विदाई-समारोह का शायद यह अंतिम कार्यक्रम था। गीत के बोल स्पष्ट सुनाई पड़ रहे थे—

मीत ! बादलों की टुकड़ियाँ आसमान में छा गयी हैं, अब तुम घर लौट आओ !

दीपक की लौ काँपने लगी है और तूफान के झोंके तेज हो गए हैं, अब तुम लौट आओ !!

मेरे शृंगार के फूल कुम्हलाने लगे हैं, मेरे स्वप्न, आह, तुम लौट आओ !!!···

—गीत की करुण स्वर-लहरियों ने वातावरण में एक अजीब-सा प्रभाव उत्पन्न कर दिया था और गीत रुक जाने के बाद भी स्वर गूँजते-से प्रतीत हो रहे थे। मुझे तो तब भान हुआ जब कामिनी सहित खिलखिलाती हुई लड़कियों की टोली एकदम मेरे सामने आ गयी। मैं इस मौके के लिए प्रस्तुत नहीं था और कामिनी को इस तरह लड़कियों से घिरा हुआ देखने की आशा भी नहीं थी। उसे सामने देखकर मैं

झेंप-सा गया, उस क्षण मुझे शायद महसूस हुआ कि मैंने इस प्रकार कामिनी का गीत सुनकर शिष्टतापूर्ण व्यवहार नहीं किया है। इस अस्वाभाविक स्थिति से आखिर मुझे कामिनी ने ही उबारा; वह बोली, "वाह ज्ञानेन्द्रजी, यह तो अच्छी रही, आप भी यहाँ मौजूद हैं!"

मेरा साहस लौट आया। मैं बोला, "हाँ, यह मेरा सौभाग्य है, अन्यथा आपका गीत सुनने का मौका कब मिलता ? मैं नहीं जानता था, आप इतना अच्छा गाती हैं।"

"मैं शायद ही कभी गाती हूँ। आज ये लड़कियाँ नहीं मानीं तो मुझे....."

"मेरा ख्याल है, यदि आप नियमित गाया करें तो इसी फन में नाम कमा लें!"

"ओह, आप मुझे झेंपाना चाहते हैं", उसने शर्मिंदा होते हुए कहा।

"नहीं, मैं सच कहता हूँ, यदि आप....."

"बस भी कीजिए, उस बात को छोड़िए। मैं पूछती हूँ, आप यहाँ अभी और रुकेंगे, या..."

"मैं आप लोगों के साथ लौट सकता हूँ। आपको एतराज तो न होगा ?"

"हाँ, चलिए न", आगे बढ़ते हुए वह बोली, "दरअसल मैं सोच रही थी, आज इन लड़कियों ने यहाँ बहुत देर कर दी है और इस झुटपुटे में लौटना कैसे होगा ?"

"गोया मैं भी अच्छे मौके से आ गया हूँ", कहकर मैं हँसा।

"आप जो समझें।" कहकर वह लड़कियों की बातों में उलझ गयी। उन लड़कियों के बीच वह एक ममतामयी माता दिख रही थी।

वह उनकी छोटी-मोटी बातें बड़े ध्यान से सुन रही थी और उनको आवश्यक परामर्श दे रही थी। उसने मेरी ओर कोई ध्यान न दिया। आखिर वह चौराहा आ गया, जहाँ से एक रास्ता "नयी रचना" की ओर जाता था और दूसरा प्रशिक्षण विद्यालय की ओर। मैं उस चौराहे पर आकर रुक गया। कामिनी ने कहा, "क्या आप यहाँ से चले जायेंगे ?"

"हाँ।"

"फिर कब मुलाकात होगी ?"

"जब आप कहें।"

"देखिये, अब मुझे अवकाश रहेगा। यह 'बैच' जा रहा है और प्रशिक्षणार्थियों का नया 'बैच' शायद माह भर बाद आए। आपने मेरा क्वार्टर देखा है न ?....विद्यालय भवन के करीब है, किसी से भी पूछ लीजिएगा, मालूम हो जाएगा।"

"ठीक है, मैं पता लगा लूँगा।"

"तो मैं उम्मीद करूँ, कल दोपहर को श्रीमान् आयेंगे" उस समय वह बहुत प्रसन्न-चित्त थी और सहज ही उसकी बातों में हल्का-सा व्यंग और मजाक छलक रहा था। मैंने वादा किया कि मैं दूसरे दिन दोपहर को उसके निवास-स्थान पर पहुँचूँगा। मैंने विदाई के लिए हाथ बढ़ाया तो उसने दूर से ही हाथ जोड़ते हुए कहा, "नमस्कार, फिर मिलेंगे।"

मैंने प्रति-नमस्कार किया और "नयी रचना" की ओर बढ़ गया।

उस रात मुझे देर तक नींद नहीं आयी। मेरी चारपायी खलियान में बिछी थी और मेरे करीब पंडित जी की चारपायी थी। वह नींद

में खर्राटे ले रहे थे पर मैं करवटें बदल रहा था। पिछली प्रहर का चाँद निकल आया था। खलियान में चाँदनी बिखर गयी थी। उस रात मेरे मस्तिष्क में यह विचार भी उठा कि मैं कामिनी के प्रति आसक्त हो गया हूँ। लेकिन दूसरे ही क्षण मैं अपने इस ख्याल पर खुद ही हँस पड़ा। मैंने सोचा, क्या मैं अब तक ऐसी ही लड़की के सपने देखता रहा था·····। निश्चय ही नहीं! तब कैसे मैं उसके प्रति आसक्त हो सकता हूँ? नहीं, मैं उसके प्रति आसक्त नहीं हुआ हूँ, न कभी हो सकता हूँ। यह ठीक है कि वह मुझे भली लगती है और एक हद तक मैं उसे पसन्द भी करता हूँ, पर आसक्ति भिन्न चीज है। पसन्दगी और आसक्ति एक बात नहीं हो सकती।

बीच में पंडितजी की नींद टूटी, वह जल पीने उठे। मुझे उस समय भी जागते हुए देखा, तो मुस्कराकर बोले, "क्या बात है, भई? किसी की याद तो नहीं आ रही?"

"मेरा कौन बैठा है, जिसकी याद मैं करूँगा?" कहकर मैंने आँखें मूँद लीं, लेकिन आँखें मूँदने की तरह विचार-प्रवाह को रोका तो नहीं जा सकता। मैं इस उलझन के दूसरे पहलू पर विचार करने लगा, भला कामिनी मेरे बारे में क्या रुख रखती है? मेरे प्रति उसका व्यवहार सदा सौजन्यतापूर्ण रहा था लेकिन उससे यह तय नहीं किया जा सकता कि उसके हृदय में मेरे प्रति कोई विशेष भाव है। फिर मुझे ख्याल आया कि उसने मुझे निमंत्रित किया है और इसे एक प्रमाण समझा जा सकता है कि उसे मुझमें दिलचस्पी है। सम्भवतः मेरे प्रति अनुराग भी हो। मन में जो विचार होता है, उसकी पुष्टि के लिए आदमी वैसा आधार भी ढूँढ़ लेता है! यों मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि कामिनी का मेरे प्रति अब तक का व्यवहार महज औपचारिक है और मुझे अपने हृदय में उसके प्रति कोई

अन्यथा भाव को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। इसके साथ ही मैंने यह भी निश्चय किया कि मैं कल उसके निवास-स्थान पर मिलने नहीं जाऊँगा क्योंकि एक तो उसका निमंत्रण औपचारिकता मात्र था, दूसरे मुझे भी अपनी भावनाओं पर नियंत्रण रखना आवश्यक था।

सुबह मेरी आँखें उस समय खुलीं जब हलवाहे खलियान में आ गये थे। किसी हलवाहे ने ही मुझे झकझोर कर जगाया था; बोला था, "भैया, पंडितजी कलेवे के लिए बुला रहे हैं।"

मैं झटपट उठा और प्रातः के आवश्यक कार्यों में लग गया।

दोपहर को दीक्षितजी मुझे बता रहे थे कि वह "नयी रचना" में सहकारी खेती का प्रयोग करना चाहते हैं। दरअसल में वह एक भिन्न ढंग की सहकारी खेती की योजना थी। दीक्षितजी चाहते थे कि पिछले पाँच वर्षों से जो हलवाहे उनके साथ काम कर रहे हैं, उन्हें न केवल साझेदार ही मान लिया जाय बल्कि भूमि के स्वामित्व में उनका हक भी स्वीकार कर लिया जाय। वैसे अभी तक "नयी रचना" में यह होता आया था कि हलवाहों को पारिश्रमिक के रूप में उपज का ही एक अंश मिलता था, निश्चित मेहनताना नहीं। मुझे दीक्षितजी का विचार पसन्द आया। वैसे भी दीक्षितजी अपने हलवाहों के साथ बहुत आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करते थे लेकिन अब वह अपनी भावनाओं को मूर्त्त रूप देना चाहते थे ताकि हलवाहों को उनका लाभ मिले। मैं पंडितजी से विचार-विमर्श कर रहा था और उसी समय मेरे मस्तिष्क में यह ख्याल भी उठ रहा था कि कामिनी सम्भवतः मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी, यदि मैं वहाँ नहीं गया तो मैं हद दर्जे का लापरवाह साबित हूँगा। इस दूसरे ख्याल ने मुझे आखिर इतना परेशान कर दिया कि मैं प्रशिक्षण विद्यालय जाने के लिए प्रस्तुत हो

हिन्दुस्थानी ४५०३ (पुस्तकालय) लाहौर

गया। मैंने जल्दी से बातचीत समाप्त की और तेजी से प्रशिक्षण विद्यालय की ओर चल पड़ा।

मेरा अनुमान गलत नहीं था, कामिनी मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मैं विलम्ब से ही पहुँचा था। वह भीतर के कमरे में आराम कुर्सी पर लेटी हुई थी। रेडियो से सुगम संगीत की कोई धुन आ रही थी और आँखें मूँदे वह उस धुन को धीमी आवाज में दुहरा रही थी। उस समय वह सादे झीने-से वस्त्र पहिने थी और उन वस्त्रों में से उसके शरीर के उतार-चढ़ाव स्पष्ट नजर आते थे। उसके पैरों के पास ही एक सफेद बिल्ली बैठी थी जो बाद में मुझे मालूम हुआ, उसने पाल रखी थी। मुझे देखते ही वह उठ खड़ी हुई और बोली, "अच्छा हुआ आप आ गए, वरना मुझे दुःख होता।"

"क्यों?"

"तब मेरा विश्वास आप पर से उठ जाता और आप नहीं जानते, जब विश्वास टूटता है, तब मुझे कितना कष्ट होता है। यह विश्वास भी एक अजीब लाचारी है। हाँ, मैं इसे लाचारी ही कहूँगी। विश्वास टूटता है और फिर भी आदमी विश्वास करने के लिए विवश हो जाता है।"

"लेकिन आप इसे यूँ क्यों नहीं समझतीं कि इसी के भरोसे तो आदमी जीता है।"

"हाँ, आप ठीक कहते हैं", फिर अचानक यह ख्याल कर कि उसने अतिथि का समुचित स्वागत किये बिना ही एक बहस खड़ी कर दी है, वह बोली, "क्षमा कीजिए, मैं बहुत जल्दी ही बेतकल्लुफ हो गयी हूँ। आप इधर बैठिए इस कोच पर।"

मैंने बाद में अनुभव किया कि उसने कितनी गम्भीरता से मेरे आगमन की प्रतीक्षा की थी। उस दिन यदि मैं नहीं पहुँचता तो

उसकी भावनाओं को निश्चय ही बहुत ठेस पहुँचती। उसने चाय के साथ नाश्ते में जो चीजें परोसीं, वे विशेष रूप से मेरे लिए ही पकायी गयी थीं। मैं जिह्वा का सदा गुलाम रहा हूँ और उस दिन तो बहुत दिनों बाद उतना बढ़िया नाश्ता पाया था। मैंने थोड़ी-बहुत अनिच्छा अवश्य जाहिर की, लेकिन जब खाने बैठ गया तो पूरा ढीठ बन गया। कामिनी को ऐसा अतिथि भी विरला ही मिला होगा। मैंने उससे कहा, "आप इस तरह जलपान कराकर गल्ती कर रही हैं। मैं अक्सर आ धमकूँगा।"

उसने हँसते हुए कहा, "तो कौन मना करता है?"

उसने जलपान की सारी सामग्री मेरे सामने रख दी थी और स्वयं चाय के 'सिप' ले रही थी। मैंने कहा, "यह क्या बात है जो आप स्वयं कुछ नहीं ले रहीं और सारी सामग्री मेरे लिए रख दी है।"

"सच मानिये, मैं यह कुछ नहीं लेती।"

"वजह!"

"दरअसल बात ये है, मेरी अतड़ियाँ अनुमति नहीं देतीं।"

"यह तो महज बहाना है।"

"नहीं, हकीकत है।"

"जैसी आपकी मरजी!"

मैं साँझ घिरते तक कामिनी के निवास-स्थान पर रहा। इतने समय में कामिनी मेरे लिए ऐसी हो गयी थी जैसे मैं उसे बरसों से जानता हूँ। उसे छाया-चित्रों के संग्रह का शौक था और उसके पास कई 'अलबम' थे जिनमें विभिन्न रमणीय स्थलों एवं दृश्यों के सुन्दर छाया-चित्र संगृहीत थे। एक अलबम में उसके कुछ रिश्तेदारों के

चित्र थे। माँ, पिता और भाई-बहिनों के छाया-चित्रों के अलावा एक छायाचित्र और था जिसकी बड़ी कापी कमरे की दीवार पर टँगी थी। वह किसी आकर्षक नवजवान की फोटो थी। वह भी उसका कोई रिश्तेदार था। उसके बारे में कामिनी ने अधिक जानकारी नहीं दी। मेरा ख्याल था, वह दिवंगत हो गया था।

कामिनी से मैंने आग्रह किया कि वह कोई गीत सुनाये।

लेकिन कामिनी ने यह स्वीकार नहीं किया, वह बोली, "देखिए, मुझको इसके लिए मत कहिए। कम-से-कम आज तो मैं नहीं गाऊँगी। आज इतना अच्छा वक्त गुजर रहा है और मैं नहीं चाहती, कोई करुण धुन सुनाकर वातावरण को मनहूस बना दूँ....."

"लेकिन आप कोई उल्लास का गीत गाइए।"

"दुख की बात तो यही है, मेरे कंठ से जब भी कोई गीत निकलेगा, करुणा का ही होगा। मैं उल्लास का गीत नहीं गा सकती।"

मैंने अधिक आग्रह नहीं किया। साँझ घिर जाने पर जब मैं जाने को हुआ तो कामिनी ने कहा, "ओह, आज की दोपहर बड़े मजे में गुजरी। ऐसे आनन्द के क्षण जिन्दगी में बहुत कम होते हैं।"

मैंने कहा, "अब आप कब मिलेंगी?"

"क्यों कल आप यहाँ नहीं आ रहे हैं?"

"कल तो नहीं आ सकूँगा।"

"ओह, शायद आपको कोई काम होगा। आप मेरी तरह निठल्ले तो हैं नहीं। लेकिन जब आपको समय मिले, आप इधर आइएगा। आप देखते हैं, यह कैसी वीरान जगह है और यहाँ उचित मित्र मिलना असम्भव है। आप जब भी आएँ, मुझे प्रतीक्षा करते पायेंगे।"

वह मुझे दूर तक पहुँचाने आई और हम अच्छे मित्र की तरह एक दूसरे से विदा हुए। मैं जब तक आँखों से ओझल नहीं हो गया, वह मोड़ पर खड़ी रही और हाथ हिलाती रही। कितनी स्नेहिल और भावुक थी वह! यह उसका वास्तविक रूप था। मुझे समारोह के दिन का ख्याल आया, उस दिन मैंने उसे कितना गलत समझा था! जब वह अपनी "ड्यूटी" पर होती तब उसका भिन्न ही रूप होता, लेकिन वह उसका वास्तविक रूप न था।

प्रशिक्षण विद्यालय की इमारतें पीछे रह गयी थीं और मैं खेतों में से मार्ग बनाता हुआ धीमी चाल से "नयी रचना" की ओर बढ़ रहा था। उस समय मेरे साथ एक मधुर स्मृति थी और मैं स्वयं को एकाकी अनुभव नहीं कर रहा था।

सबेरे किसी आवश्यक काम से दीक्षितजी बाहर चले गए और "नयी रचना" के कामों की जिम्मेवारी मुझ पर सौंप गये। उन्होंने एक दिन बाद लौट आने को कहा था, लेकिन वह तीन दिन तक नहीं आए। उनकी अनुपस्थिति में मुझे दिन भर अवकाश नहीं मिलता था, रात को ही अवकाश मिलता था, लेकिन उस समय मैं कामिनी से मिलने से तो रहा। मैं उद्विग्न था और हर क्षण यह सोचता था कि कामिनी मेरी प्रतीक्षा करती होगी।

दीक्षितजी को गये दो दिन हो गये थे शाम का वक्त था। हलवाहे अपना काम समेट रहे थे और वे जाने की तैयारी में थे। मैं तिपाये पर बैठा था। इसी समय मैंने देखा, एक महिला खलियान में प्रविष्ट हो रही है। वह आँखों पर धूप का चश्मा लगाये थी और हाथ में छोटी छतरी लिए थी। वह सीधी मेरी ओर बढ़ आयी। जब उसने आँखों पर से चश्मा हटा लिया तब मैं निश्चित रूप से पहिचान गया, वह

कामिनी ही थी। मुझे देखते ही उसके चेहरे पर गहरी मुस्कान फूट गयी। वह बोली, "वाह, आप तो आते ही रहे, मैंने आपकी प्रतीक्षा की—आखिर आज खुद ही चली आई।"

मैंने उसके बैठने के लिए एक तिपाया और मँगा लिया। वह उस पर निस्संकोच बैठ गयी और बोली, "खलियान के खुले वातावरण में इस तरह बैठने में भी कितना अच्छा लगता है।"

खलियान में जो हलवाहे और उनकी औरतें थीं, वे कामिनी को आश्चर्य-भरी दृष्टि से देख रहे थे। उन लोगों को मेरे बारे में अधिक-कुछ नहीं मालूम था, केवल यही जानते थे कि मैं पंडित जी का अच्छा दोस्त हूँ। हमें संकेत कर अब जो बातें वे आपस में फुसफुसा रहे थे, उससे मैं भाँप गया, उन्होंने हमारे सम्बन्ध में भिन्न ही धारणा बना ली थी। मैं चिंतित हो गया था लेकिन कामिनी ने उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया और उसके चेहरे पर एक शिकन तक नहीं आई। वह उसी तरह बातें करती रही। मेरे मस्तिष्क में बार-बार यह ख्याल उठ रहा था, यदि इस समय पंडितजी होते, तो जाने वह क्या अटकल लगाते! इसके साथ ही मुझे कामिनी के साहस पर भी आश्चर्य हो रहा था, वह निस्संकोच यहाँ चली आई थी। उसने बताया, "आज मैं नर्मदा किनारे गयी थी और मुझे आशा थी, आप वहाँ मिलेंगे, लेकिन जब आप वहाँ भी नहीं दिखे तो मैं लौटते हुए यहाँ ही चली आई। मैंने सोचा कहीं आप बीमार न पड़ गये हों अथवा शायद मुझसे नाराज हों···"

"अच्छा हुआ, आपने यहाँ आकर अपनी ही आँखों देख लिया कि ऐसी कोई बात नहीं है।"

अब तक हलवाहे खलियान से जा चुके थे और हम एकान्त में थे। मुझे उस क्षण लगा, काश ! हम इसी तरह जिन्दगी गुजार सकें। और इस कल्पना के साथ ही मैं अपने विचारों में खो गया।

कामिनी ने कहा, "आप क्या सोच रहे हैं ?"

"एक अनोखी योजना !"

"हमें भी बताइए, आपकी वह अनोखी योजना।"

"नहीं, आज नहीं बताऊँगा—फिर कभी बताऊँगा।"

"क्यों, आज क्यों नहीं बतावेंगे आप ?"

"अभी तो मैं खुद ही उसे तय नहीं कर पाया हूँ।"

"मुझे बताइए, शायद मैं उसे तय करने में मदद कर सकूँ।"

"शायद तुम उसे तय कर सको", कहते हुए मैंने कामिनी के चेहरे पर दृष्टि डाली। वह उत्सुकता से मेरी बातें सुनने की प्रतीक्षा कर रही थी। खलियान में उस समय और अधिक अँधेरा घिर आया था और उस अँधेरे में हम दो छायाओं की तरह दिख रहे थे। मैं कुछ कहने जा ही रहा था कि कामिनी उठ खड़ी हुई; बोली, "देखिए कितनी देर हो गयी है, अब मुझे चल देना चाहिए।"

"लेकिन आप तो मेरी योजना सुन रही थीं न ?"

"हाँ, लेकिन आज नहीं, अब फिर कभी सुनाइएगा। तो मैं चलूँ।"

"चलिए, मैं आपको पहुँचा देता हूँ।"

हम दोनों प्रशिक्षण विद्यालय की ओर चल पड़े। छोटा रास्ता खेतों के बीच में से होकर जाता था। हम उसी रास्ते से चले। इस ऊबड़-खाबड़ रास्ते में हमारे पैर सीधे नहीं पड़ रहे थे। कामिनी को बार-बार मेरा सहारा लेना पड़ रहा था। वह बहुत सहज भाव से मेरा हाथ

पकड़ लेती थी लेकिन मैं उतने ही स्वाभाविक रूप से उसे सम्भाल न पाता था । प्रशिक्षण विद्यालय के निकट पहुँचकर मैं विदा होने को हुआ तो वह बोली, "अब आप कब मिलेंगे ?"

"शायद आज रात को पंडितजी लौट आयेंगे । यदि वे लौट आते हैं, तो हम कल मिल सकेंगे ।"

....यों हमारी घनिष्टता बढ़ती गयी । हम प्रायः प्रतिदिन मिलते थे और सभी विषयों पर मुक्त रूप से चर्चा करते थे । इस बीच दो-तीन बार कामिनी मुझे दावत दे चुकी थी—हाँ, वह दावत ही थी, कामिनी ने विविध प्रकार के व्यंजन पकाये थे और मुझे बहुत आग्रह के साथ खिलाये थे । मैं नहीं जानता, दीक्षितजी हमारी घनिष्टता को किस दृष्टि से देखते थे । उन्होंने इस सम्बन्ध में कभी कोई बात नहीं की, यद्यपि उन्हें हमारी मैत्री का पूरा ज्ञान था । मेरा ख्याल है, दीक्षितजी बहुत परिष्कृत समझदारी के व्यक्ति हैं और यह विषय उनके लिए विशेष महत्व नहीं रखता था । लेकिन हलवाहों और उनकी औरतों की बात भिन्न थी । वे सामान्य समझ के प्राणी थे, और उन्होंने अपने ढंग से हमारी मैत्री को समझा था । वे जब भी हमें साथ-साथ देखते, एक कुटिल मुस्कान उनके चेहरों पर झलक आती, पर उनके दिल में कोई कलुष नहीं था । मैं उनके भावों को समझता और स्वयं भी हँस पड़ता । खीझ तो मुझे उन महिलाओं के व्यवहार से होती थी जो प्रशिक्षण विद्यालय में ही रहती थीं और कामिनी की सहकर्मी थीं । उन्होंने विद्यालय की चौकीदारनी को खास हिदायत दे रखी थी कि वह हम लोगों की गतिविधि पर निगाह रखे और उन्हें सूचना देती रहे । वे यदा-कदा अपनी बातों से भी हमारे प्रति कटाक्ष किया करती थीं । लेकिन ताज्जुब की बात यह थी कि कामिनी ने कभी उनके इस रुख का प्रतिकार करने की चेष्टा नहीं की और न उससे विचलित ही हुई । मैं

नहीं समझता कि वह अपनी उन सहकर्मियों के रुख से परिचित नहीं थी, लेकिन उसने अपने व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं किया। उल्टे वह अधिकाधिक घनिष्टता बढ़ाती गयी। एक दिन उसने अपनी उन सहकर्मियों के सामने ही 'पिकनिक' का प्रस्ताव रख दिया।

मैं समझा, वह मजाक कर रही है, लेकिन नहीं, वह पूर्णतः गम्भीर थी। उसने मिसेज देसाई से कहा, "आप नहीं चलेंगी ?"

उत्तर मेडम दत्ता ने दिया, "आप चाहेंगी तो नहीं कि हम भी साथ चलें, फिर पूछने से क्या लाभ ?"

"जैसी आप लोगों की इच्छा। मैं तो चाहती थी, आप लोग भी साथ चलतीं, ज्यादा आनन्द आता। लेकिन....."

मिसेज देसाई गुजराती महिला थीं और विवाहिता थीं। किसी वजह वह पति से अलग हो गयी थीं और स्वतंत्र जीवन-यापन करती थीं। उनकी उम्र इस समय करीब ३५ वर्ष की थी। वह शरीर से मोटी और ठिगने कद की थीं, लेकिन सदा शृंगार किये रहती थीं, उनमें किशोर वय की लड़कियों जैसी चंचलता और शोखी थी। वह अक्सर अपने किन्हीं सम्बन्धियों से मिलने का बहाना करके प्रशिक्षण विद्यालय से चल देती थीं और हफ्तों गायब रहती थीं। मेडम दत्ता अधेड़ उम्र की ईसाई महिला थीं। उनके पिता शायद कोई बंगाली सज्जन थे, जिन्होंने किसी ईसाई रमणी से प्रेम करके ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। मेडम दत्ता एकदम कुरूप थीं और वह खुद को बहुत बुद्धिमान समझती थीं। विद्यालय में इनके अलावा दो शिक्षिकाएँ और थीं जो छुट्टियों में अपने घर गयी हुई थीं।

जब मिसेज देसाई और मेडम दत्ता चली गयीं, तो मैंने कामिनी से कहा, "क्या तुमने इन लोगों को चिढ़ाने के लिए ही यह 'पिकनिक' का जिक्र छेड़ा था ?"

"क्या मतलब ? मैं तो सचमुच ही यह चाहती थी कि ये लोग भी साथ चलें। इस वीरान जगह में इन दिनों जिन्दगी कितनी एकरस हो गयी है । वे लोग चलतीं तो उनका भी दिल बहल जाता, लेकिन खैर····अब आप बताइये, कहाँ चला जाए। वैसे मुझे एक जगह का ध्यान है। पिछली साल इन्हीं दिनों हम वहाँ गये थे। यहीं नर्मदा के किनारे है वह। बस से जाना होगा। यदि आपके ध्यान में कोई दूसरी जगह हो, तो आप बतायें, अन्यथा हम वहीं चलेंगे।"

"मैं तो इस जगह से एकदम अपरिचित हूँ। तुम जहाँ कहोगी, हम वहाँ ही चलेंगे।"

"अच्छा तो तय रहा, हम कल दोपहर को वहाँ चलेंगे।"

वैशाख की उस चिलचिलाती दोपहर में हम रवाना हुए। कुंजघाट लगभग दस मील दूर था। बस से आध घंटे में वहाँ पहुँचने की उम्मीद थी, लेकिन बीच में बस फेल हो गयी और हम ढलती दोपहर तक ही वहाँ पहुँच सके। कुंजघाट नर्मदा का ही एक घाट है और उसके आसपास घने वृक्ष हैं। शायद इसी कारण उसका यह नामकरण हुआ है। कुंजघाट के निकट ही सरकारी डाकबँगला है, जो विशेष रूप से भ्रमणार्थियों के लिए ही बना है। कामिनी अपने साथ जलपान की बहुत-सी सामग्री लायी थी। हमने घाट के पत्थर पर बैठकर साथ-साथ जलपान किया।

अब सूर्य पश्चिम के क्षितिज में था। कामिनी उस समय बहुत प्रफुल्लित दिख रही थी। वह आज हल्के गुलाबी रंग की साड़ी पहने थी। उसके चेहरे का रंग धूप में और दमक उठा था।

मल्लाह छोटी-सी नाव ले आया जिसमें केवल दो-तीन व्यक्ति ही बैठ सकते थे। हम उस नाव में बैठ गये और नर्मदा के चौड़े वक्ष पर नाव तेजी से आगे बढ़ी। नदी के किनारों पर ऊँची पहाड़ियाँ थीं और उन पहाड़ियों के बीच घिर कर नदी के जल ने एक गहरे नैसर्गिक सरोवर का रूप ले लिया था। कामिनी ने कहा, "यह पिकनिक हमें सदा याद रहेगी, वास्तव में यह जगह बहुत सुन्दर है।"

"मेरा ख्याल भिन्न है," मैंने कहा, "यह तो मनःस्थिति पर निर्भर है।"

कामिनी मेरा कथन ठीक प्रकार नहीं समझी। उसने कहा, "तो क्या आपको यह जगह पसन्द नहीं आई?"

मैंने हँसते हुए कहा, "नहीं, यह बात नहीं है। मुझे यह जगह बेहद पसन्द आयी है लेकिन उसकी वजह यह नहीं कि यह जगह इतनी अधिक सुरम्य है, बल्कि यह है कि तुम मेरे साथ हो।"

नर्मदा के जल को उसी प्रकार हाथ से उछालते हुए उसने कहा, "हाँ, यह भी हो सकता है। साथ अच्छा हो, तो आनन्द बढ़ जाता है।"

नदी के दूसरे तट पर ले जाकर मल्लाह ने नाव रोक दी, बोला, "बाबूजी, उधर देवीजी की मढ़िया है। आप दर्शन नहीं करेंगे?"

"कौन-सी देवी हैं?" मैंने पूछा।

कामिनी बोली, "चलो, आपके लिए तो सब देवी-देवता बराबर हैं। नाम जानकर क्या कीजिएगा?"

हम नाव से उतर गए। मैंने कामिनी को नाव से उतारने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। उसने मेरा हाथ पकड़ लिया, लेकिन जब वह उछलकर नाव के बाहर निकली तो नाव डोल गई और सन्तुलन

सम्भाल न सकने के कारण वह आकर मेरे शरीर पर गिरी। उसके शरीर के धक्के के कारण मैं भी गिरते-गिरते बचा। क्षण भर वह मेरे शरीर से चिपटी रही और दूसरे क्षण जब वह मुझसे विलग हुई तो बहुत लज्जित दिख पड़ी। साड़ी का पल्लू सम्भालते हुए वह बोली, "क्षमा कीजिए, आप न होते तो मैं शायद नदी में ही गिर गयी होती।"

अभी भी वह हाँफ रही थी, और उसका एक हाथ मेरे हाथ में था। सामने एक पगडंडी दिखायी पड़ रही थी जो वृक्षों और झाड़ियों के बीच से होकर मढ़िया तक जाती थी। मल्लाह ने चिलम निकाल ली थी और तट पर पड़े एक पत्थर पर बैठ कर वह चकमक से आग सुलगा रहा था।

हम पगडंडी पर आगे बढ़े। वहाँ बिलकुल एकान्त था और उस वातावरण में साँझ के समय, मैं कह सकता हूँ, मेरी भावनायें नियंत्रित हो गयी थीं। संयोग यह था कि कामिनी का हाथ मेरे हाथ में था और उसने उसे हटाने की कोई चेष्टा नहीं की थी। मैंने इस बात को कामिनी की आंतरिक भावनाओं का संकेत समझा और मेरी भावनाएँ एक दिशा में बह गयीं। झाड़ियों और पौधों के झुरमुट के बीच से हम गुमसुम, निःशब्द चले जा रहे थे लेकिन मेरा मन उसी प्रकार निर्विकार नहीं था। मढ़िया पत्थरों की एक खोह थी और उसमें सिन्दूर से पुती कोई देवी-प्रतिमा रखी थी। साँझ घिर चुकी थी और मढ़िया में अपेक्षाकृत अधिक अँधेरा थी। वह इतनी तंग थी कि उसमें जब हम दोनों एक साथ प्रविष्ट हुए तो हमारे शरीर एक दूसरे से प्रायः चिपट गये।

इस अवसर पर मैं अपने को जब्त न रख सका और अपनी भावनाओं में बह कर मैं वह गल्ती कर बैठा। कामिनी ने आँखें मूँद ली थीं

और वह देवी की प्रतिमा को प्रणाम कर रही थी। उसका मासूम चेहरा उस क्षण बहुत प्यारा लग रहा था। जाने मुझे क्या सूझी, मैंने उसके माथे पर अपने अधर रख दिये और उसे करीब खींच लिया। मैंने उस समय कामिनी की भावनाओं को ठीक तरह समझने की चेष्टा ही नहीं की थी। वह इस प्रसंग के लिए शायद बिल्कुल तैयार नहीं थी। वह क्षण भर अवाक्-सी खड़ी रही और फिर अपना मुँह उसने अपने दोनों हाथों से ढँक लिया और वहीं बैठ गयी।

मुझे अब अपनी गल्ती महसूस हुई और लगा कि मैं कैसी जल्द-बाजी कर चुका हूँ। कामिनी सिसक रही थी। वह बोली, "मुझे मालूम नहीं था, आप भी मुझे गलत समझेंगे।" उसकी सिसकियाँ तेज हो गयीं लेकिन मुझ में वह साहस नहीं रहा था कि मैं कामिनी को समझाता, अपनी भूल के लिए क्षमा माँगता। मैं बहुत लज्जित था। उस समय मुझे वहाँ से हट जाने के सिवा दूसरा उपाय न सूझा।

मैं नदी के किनारे पहुँचा। मुझे अकेले आते देख मल्लाह ने प्रश्न-भरी निगाह से देखा। मैं उसका आशय समझ गया, कहा, "वह आ रही हैं!"

कामिनी स्थिर चाल से आ रही थी। मल्लाह ने गौर नहीं किया लेकिन मैंने देखा, उसकी आँखें लाल थीं, वह खूब रोयी थी। वह चुपचाप आकर नाव में बैठ गयी और उसके बाद हम दोनों ही चुप रहे।

बस से उतर कर वह प्रशिक्षण विद्यालय की ओर चली गयी और उसने मुड़ कर एक बार भी पीछे नहीं देखा।

मैं उस रात जब "नयी रचना" में लौटा, तब बहुत खिन्न था, बेहद झुँझलाया हुआ।

मैंने एक भोंडी हरकत की थी और एक अच्छी मित्र को सदा के लिए खो दिया था। लेकिन जब मैंने इस घटना पर गहराई से विचार किया, तब मुझे अपना अपराध उतना गम्भीर नहीं जान पड़ा। कामिनी ने ही मुझे यह समझने का मौका दिया था कि वह मुझे अपना एक अच्छा दोस्त समझती है। कामिनी को भी यह मालूम होना चाहिए था कि मैं उसके प्रति क्या ख्याल रखता हूँ। इस स्थिति में आज जो हुआ, वह तो स्वाभाविक ही था। आज न होता तो चार दिन बाद ही हमारी मित्रता की यह परिणति होती। कामिनी को भला क्या आपत्ति थी? क्या वह मुझे पसन्द नहीं करती? क्या मैं उसके लिए एक योग्य जीवन-साथी नहीं हो सकता?·····कामिनी ने शायद मुझे ठीक तरह नहीं पहिचाना है, अन्यथा वह·····

मैंने जिन्दगी में अभी तक दूसरों को ठुकराया था। आज जब खुद उपेक्षित किया गया, तो तिलमिला उठा। शायद मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि मुझे भी जीवन में ऐसी शिकस्त खानी पड़ेगी। कम-से-कम कामिनी जैसी लड़की की ओर से असहमति की उम्मीद तो मैं कर ही नहीं सकता था। इसे मैं कामिनी की नादानी ही कहूँगा और क्या? मैं कामिनी के प्रति आखिर क्यों आकर्षित हुआ था? शायद इसकी वजह यह थी कि कामिनी ने कभी मेरे प्रति विशेष दिलचस्पी नहीं बतायी थी। वह जितनी ही तटस्थ रही थी, मेरे लिए उतनी ही प्रिय होती गयी थी। मैंने इसके पूर्व इस बात पर गौर नहीं किया था और न ही यह जानने की चेष्टा की थी कि वह इतनी तटस्थ, इतनी विरक्त क्यों हैं? हाँ, वह एक विरक्त किस्म की लड़की थी—उसके रहन-सहन, खान-पान···सबसे यह बात प्रकट होती थी। सामान्यतः इस उम्र में लड़कियाँ यूँ विरक्त नहीं होतीं।···तो क्या वह किसी से वचनबद्ध है अथवा किसी की प्रतीक्षा कर रही है? लेकिन

ऐसा कौन होगा ? मैं इतने दिनों से उसके सम्पर्क में था और मुझे ऐसा कोई आभास नहीं मिला था। उसके पास शायद ही किसी का पत्र आता था और वह कभी किसी को पत्र नहीं लिखती थी। उसके पास मिलने आने-वाले व्यक्ति भी गिने-चुने थे जिनमें अधिकांश व्यक्ति विद्यालय से संबंधित कार्य से ही आते थे।···तब ? मैं इसका आखिर कोई जवाब नहीं ढूँढ़ सका। मेरे लिए एक अबूझ पहेली ही थी !

"नयी रचना" में एक छोटा-सा आयोजन था। दीक्षितजी ने तय कर लिया था कि पिछले पाँच वर्ष से जो हलवाहे उनके साथ कार्य कर रहे हैं, उन्हें वह भूमि के स्वामित्व का अंश देंगे। यह आयोजन इसी प्रसंग में किया जा रहा था। अभी तक सारी भूमि पर केवल दीक्षित जी का नाम था लेकिन अब उनके साथ सब हलवाहों का भी नाम होगा जो पिछले पाँच वर्ष से उनके साथ काम कर रहे थे। दीक्षित जी ने इस सम्बन्ध में विस्तृत शर्तें तैयार की थीं जिनके अनुसार कोई भी साझेदार तब तक भूमि का हकदार रहेगा जब तक वह उस भूमि को जोतता है, किसी साझेदार को व्यक्तिगत रूप से किसी भी भूमि को बेचने का हक न होगा, साझेदार की सन्तानों का भी इन्हीं शर्तों के अनुसार उस भूमि पर हक रहेगा। दीक्षित जी ने बहुत सूझ-बूझ और दूरदर्शिता से नियमादि तैयार किये थे। उन्होंने मुझसे भी कहा था कि यदि मैं वहाँ बसना चाहूँ तो मेरे लिए वह विशेष व्यवस्था करके भूमि के स्वामित्व में साझेदार बना सकते हैं, लेकिन मैंने यह स्वीकार नहीं किया। मैं तो वहाँ से यथा-शीघ्र जाने का विचार कर रहा था।

हलवाहों के लिए वह एक ऐतिहासिक प्रसंग था। उन्होंने स्वप्न में भी आशा न की थी कि वे कभी भूमि के स्वामी भी हो सकेंगे। दीक्षित जी बताया करते थे कि उन्हें इस वीरान जगह में हलवाहे जुटाने में कितनी कठिनाई हुई थी। वहाँ हलवाहे मिलते ही नहीं थे। कुछ हलवाहे तो वह दिल्ली से लाये थे जो उसी फर्म में नौकर थे जिसमें वह मैनेजर थे। वे पहाड़ी गाँवों से आकर शहर में रोजी कमाने आये थे। गाँव में वे खेती ही करते थे लेकिन चूँकि उनके पास जमीन बहुत कम थी और जो भी जमीन थी, वह अधिक उपजाऊ थी, इसी-लिए वे शहर चले आये थे। उनको भरपेट रोटी चाहिए थी और उसके लिए वे कहीं भी जा सकते थे। दीक्षित जी उन्हें यही भरोसा देकर लाये थे कि किसी भी स्थिति में उनके परिवार के भरण-पोषण का जिम्मा उन पर रहेगा। अन्य हलवाहे आसपास के गाँवों से आये थे। दीक्षित जी का बर्ताव इतना अच्छा था कि जो हलवाहा एक बार "नयी रचना" में आ जाता था, वह फिर वहीं बस जाता था। जो जगह कभी एकदम वीरान थी, वह अब आदमियों की चहल-पहल से गुलजार हो गयी थी। हलवाहों ने पहले अपने रहने के लिए मामूली-सी अस्थायी झोपड़ियाँ बनायी थीं लेकिन धीरे-धीरे उन झोपड़ियों को तोड़कर छोटे-छोटे मकान बना लिए थे। दीक्षित जी ने मकान बनाने में उन्हें भरसक सहायता की थी। "नयी रचना" यों एक गाँव का रूप ग्रहण करती जा रही थी।

वहाँ पहले एक कठिनाई अवश्य थी। बस्ती में कारीगर न होने के कारण छोटे-मोटे कार्य के लिए भी दूर जाना पड़ता था। इस कठिनाई को दीक्षित जी ने इस प्रकार हल किया कि उन्होंने अपने हलवाहों में से कारीगर तैयार कर लिए। जो हलवाहा थोड़ा-बहुत काम जानता था, उसे उन्होंने प्रोत्साहित किया और औजार लाकर दिये।

धीरे-धीरे वे अपने काम में होशियार हो गए। अब लोहारी और बढ़ईगिरी के छोटे-मोटे काम वे लोग वहीं कर लेते थे। दवाखाने की जरूरत को स्वयं दीक्षित जी ने एक हद तक पूरा किया था। उनके पास आवश्यक पेटेन्ट दवाइयों तथा प्रथमोपचार के साधनों का छोटा-सा संग्रह था। फिर भी "नयी रचना" अभी पूर्णतः आत्मनिर्भर नहीं हो सकी थी, लेकिन दीक्षितजी को विश्वास था कि निकट भविष्य में वह पूर्णतः आत्मनिर्भर हो जाएगी। दीक्षितजी उस बस्ती को कृषि-प्रधान ही नहीं रखना चाहते थे। उनकी कल्पना के अनुसार वह वहाँ कुछ छोटे-मोटे उद्योग भी विकसित करना चाहते थे। उस क्षेत्र में गन्ना तो होता था ही, दीक्षित जी का विचार था कि शक्कर बनाने का कारखाना वह स्वयं वहाँ खोलेंगे।

मैं "नयी रचना" में एक बात से विशेष प्रभावित हुआ, वह था वहाँ का सामाजिक जीवन। उस बस्ती में भिन्न-भिन्न जाति और प्रदेश के लोग आकर बसे थे। उनके रस्मोरिवाज में भी किंचित भिन्नता थी। इसके बावजूद वे लोग एक दूसरे के सामाजिक कार्यों में सम्मिलित होते थे। उनके बीच इस प्रकार का मेल-जोल उत्पन्न करने का श्रेय दीक्षित जी को ही था। वह स्वयं हर सामाजिक कार्य में सम्मिलित होते थे और यह सावधानी बरतते थे कि बस्ती के सब व्यक्ति उस कार्य में सम्मिलित हों। अब तो उन लोगों ने आपस में एक-दूसरे के अच्छे रस्मोरिवाज प्रायः अपना लिए थे और वे लोग उन्हें इसी तरह मनाते थे जैसे वे उनके अपने रिवाज हों!

मैंने "नयी रचना" में रहते हुए ही जाना कि आदमी स्वभाव से बर्बर और बहशी नहीं है। वह तो स्वार्थ है जो आदमी को बर्बर और बहशी बना देता है। मेरा विश्वास है, हर आदमी शान्तिप्रिय, अहिंसक और सभ्य होता है—स्वार्थ के वशीभूत होकर ही वह कलह के लिए तत्पर

होता है।"नयी रचना" में यदि कलह नहीं थी, तो उसकी वजह यही थी कि वहाँ सबके स्वार्थ तुष्ट थे। वहाँ चोरी, डकैती, मार-पीट का प्रकरण शायद ही कभी सुनने को मिलता था। यदि कहीं कोई मनोमालिन्य या मनमुटाव हो जाता था, तो दीक्षित जी दोनों पक्षों को समझा-बुझा कर उनके बीच फिर समझौता कर देते थे। ऐसा एक प्रकरण तो मेरे सामने ही उपस्थित हुआ था।

लक्ष्मन नाम का हलवाहा पिछले साल ही "नयी रचना" में काम करने आया था। वह आदत से निकम्मा, कामचोर और आलसी था। वह अपने हिस्से का काम कभी पूरा न करता था, उल्टा वह दूसरों पर आरोप लगाया करता कि उसके सबब से वह काम नहीं कर पाता। उसने एक दूसरे से उल्टी-सीधी बातें भी करनी शुरू कर दी थीं जिसके कारण "नयी रचना" में वातावरण बहुत खराब हो गया था। दीक्षित जी आदमी पहिचानने में तेज हैं। उन्होंने लक्ष्मन को दो-एक बार चेतावनी दी। फिर भी जब उसने अपने तौर-तरीके नहीं बदले तो उन्होंने उसे छुट्टी दे दी। यह प्रकरण मेरे ही सामने हुआ था और कुछ लोगों ने दीक्षित जी के उस व्यवहार को बहुत निर्मम बतलाया था। लेकिन मैं जानता हूँ, उन्होंने वह ठीक ही किया था उसके सिवा उनके सामने कोई उपाय ही नहीं था। एक व्यक्ति के लिए वह समूची बस्ती की शाँति चौपट नहीं कर सकते थे। वैसे लक्ष्मन को छुट्टी देते हुए उनको बहुत दुख हुआ था—ऐसा क्लेश जो एक पिता को अपने बेटे से अलग होते हुए होता है!

मैं उन दिनों उस आयोजन की तैयारी में ही व्यस्त रहा। मेरा विचार था कि यह आयोजन समाप्त होते ही मैं—"नयी रचना" से चल दूँगा।

* चार दीवारी

आयोजन सायंकाल था। उन दिनों खलियान उठ गया था। इस कारण खलियान को ही लीप-पोत कर आयोजन के लिए तैयार कर लिया गया था। उसके एक कोने में छोटा-सा मंच बनाया गया था और उसके सामने चटाइयाँ बिछा दी गयी थीं। उस आयोजन के लिए आसपास के गाँवों से अनेक व्यक्ति आये थे। जिलाध्यक्ष महोदय विशेष रूप से निमंत्रित किये गये थे और उनकी उपस्थिति में ही दीक्षित जी हलवाहों को अपनी भूमि में स्वामित्व का हक घोषित करने-वाले थे। यह एक अनौपचारिक रस्म मात्र थी। औपचारिक वैधानिक कार्यवाही तो कालान्तर में होने वाली थी।

मैं खलियान के सामने ही खड़ा था और आने-वाले व्यक्तियों की अगवानी करता हुआ उन्हें उचित स्थान पर बिठाने का कार्य कर रहा था। कार्यक्रम शुरू हो गया था। हलवाहों के बालक-बालिकाओं ने प्रसंग के अनुकूल एक प्रार्थना कंठस्थ की थी जिसको वे मधुर स्वर में गा रहे थे। उसी समय तेजी से कदम बढ़ाती हुई कामिनी आई।

मुझे ज्ञात था कि उसे भी निमंत्रित किया गया है लेकिन मुझे विश्वास था, वह नहीं आएगी, और जब अब तक नहीं आयी थी तो मैं समझ गया था, वह निश्चय ही नहीं आएगी।

एकाएक जब वह यों आ गयी, तो मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ सा हो गया और तय नहीं कर सका कि मुझे उसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए। उस समय वहाँ दूसरा व्यक्ति भी नहीं था जिस पर मैं स्वागत का दायित्व सौंपकर अलग हट जाता।

कामिनी मेरे बिल्कुल करीब आ गयी और स्वाभाविक ढंग से बोली, "आप इतने दिन दिखे नहीं। मैंने तो समझा था, आप शायद कहीं गये हुए हैं।"

"नहीं, मैं यहीं था, और आप तो जानती हैं, यह आयोजन था। इसकी तैयारी में लगा रहा।" इधर मैं कामिनी को 'तुम' सम्बोधित करने लगा था, लेकिन इस समय मैंने उसे आप ही सम्बोधित किया। हमारे बीच अब फिर एक दूरी कायम हो गयी थी। अपनी जगह पर बैठने के पूर्व उसने कहा, "जलसा खत्म होने के बाद मिलिएगा।"

मैं उससे मिलना नहीं चाहता था लेकिन जब उसने अपनी ओर से यह आग्रह किया तो मैं दुविधा में पड़ गया। सम्भवतः वह मेरी मनःस्थिति को भाँप गयी थी और इसीलिए उसने विशेष रूप से यह आग्रह किया था। दीक्षित जी का भाषण हो गया था। उसके बाद हलवाहों के प्रतिनिधि के रूप में मारोती चाचा बोलने खड़े हुए। उन्हें भाषण का अभ्यास नहीं था। वह मंच पर जाकर खड़े हुए और कुछ क्षणों तक मूक ही खड़े रहे। शायद श्रोताओं की उतनी भीड़ को देखकर वह परेशान हो गये थे लेकिन फिर उन्हें ख्याल आया और उन्होंने बिना किसी औपचारिक सम्बोधन के सीधे ही कहना शुरू किया—"मुझे मेरे भाइयों ने मंच पर खड़ा कर दिया है कि मैं उनकी तरफ से दो-चार बातें कहूँ। मैं अपढ़ गँवार आदमी हूँ। मैं सिर्फ मेहनत करना जानता हूँ। मैं बड़े-बड़े सिद्धान्त नहीं जानता। पंडितजी कहते हैं कि उन्होंने हमें हमारा हक दिया है, हमारी मेहनत का फल दिया है। यह ठीक है या गलत—यह तो ज्ञानी लोग ही जानें लेकिन हम तो यही मानते हैं और मानेंगे कि पंडितजी ने हमें वह सुख दिया है जो हमारी पीढ़ियाँ याद रखेंगी। हम जिस जमीन पर पसीना बहाते हैं, उस जमीन से हमें लगाव हो जाता है। उसकी उपज से हमें लगाव हो जाता है! एकाएक जब वह लगाव टूट जाता है तो हमारे दिल को जो ठेस पहुँचती है, वह राम ही जानता है। लेकिन अब वह मौका नहीं आएगा। हमारा और जमीन का

* चार दीवारी

लगाव अब टूट नहीं सकेगा। यह सोचकर हमें कितनी खुशी होती है !....'' मारोती चाचा अब स्वाभाविक रूप में धाराप्रवाह बोल रहे थे। वे लगभग दस मिनिट तक बोलते रहे। अन्त में "भूमि माता की जै" के नारे के साथ उन्होंने अपना भाषण समाप्त किया। उनके भाषण ने उपस्थित सभी व्यक्तियों के हृदयों पर असर किया था क्योंकि उसमें भावनाओं की सचाई थी। अँधेरा घिरने लगा था और मशालें जला दी गयी थीं। एक मशाल मैंने भी अपने हाथ में ले ली थी।

आयोजन समाप्त होते ही कामिनी मेरी ओर आई। आते ही उसने कहा, "आप मुझे पहुँचाने नहीं चलेंगे ?"

मैंने मशाल एक व्यक्ति को दे दी और कामिनी के साथ चल दिया। दूसरे लोग भी अपने मुकाम को लौट रहे थे। उस समय रास्ता जनशून्य नहीं था और कामिनी चाहती तो अकेली ही लौट सकती थी लेकिन उसने किसी प्रयोजन से ही मुझे साथ लिया था। हम काफी दूर तक चुपचाप चलते रहे। मैं समझ रहा था, कामिनी कोई बात कहना चाहती है लेकिन वह जो बात कहना चाहती है, उसके लिए उचित शब्द नहीं तय कर पा रही थी। आखिर उसने कहा, "इतने दिन आप नहीं आए और मैं बहुत बेचैन रही।"

"लेकिन आप जानती हैं, मैं क्यों नहीं आया। भला बताइये, उस मूर्खता के बाद मैं आपसे मिलने का साहस कैसे करता ?"

"लेकिन मैं यह समझ नहीं पाई कि आपको वैसी गलतफहमी कैसे हुई ? मेरा रुख तो सदा स्पष्ट रहा है और आप जैसे समझदार आदमी के लिए....''

"क्षमा कीजिए कामिनी जी, मैंने आपके रुख को कभी गलत समझने की चेष्टा नहीं की। आप ही बताइये, क्या आपके हृदय में

मेरे लिए वैसी भावनायें नहीं हैं जिन्हें अनुराग कहा जाता है। आखिर एक युवक और युवती की घनिष्टता का परिणाम ही क्या हो सकता है ?"

"परन्तु यदि युवती विवाहिता हो तो ?"

मैं उसके इन शब्दों के लिए कतई तैयार नहीं था। मैं एकाएक उन शब्दों पर विश्वास भी नहीं कर सका। मैंने कहा, "आप मिसाल दे रही हैं या अपनी हकीकत बता रही हैं ?"

उसने कहा, "नहीं, मैं हकीकत ही बता रही हूँ। मैं विवाहिता हूँ और मेरे हृदय में ऐसी भावनाओं के लिए कोई गुंजाइश नहीं हो सकती जिन्हें अनुराग कहा जाता है।"

मैंने गौर किया कि कामिनी की माँग में सिन्दूर भरा है। इसके पूर्व मैंने इस बात की ओर न जाने क्यों, लक्ष्य ही नहीं किया था। निश्चय ही मैं अपने जीवन में एक ऐसी गलती कर चुका था जिसको किसी प्रकार भी दुरुस्त नहीं किया जा सकता था।

रात्रि का आठ बजा था। हम प्रशिक्षण विद्यालय पहुँचे, तब मिसेज देसाई और मेडम दत्ता शतरंज खेल रही थीं। कामिनी ने ठहरने के लिए अनुरोध किया लेकिन मैं उस समय वहाँ नहीं रुका। वह बोली, "हमारे हक में यही अच्छा है कि हम पिछली बातों को भूल जायें और अपनी पुरानी मित्रता को कायम रखें।"

मैं दूसरे दिन मिलने का वचन देकर लौट आया। मेरे मस्तिष्क में अभी भी एक प्रश्न चक्कर काट रहा था कि कामिनी यदि विवाहिता है तो उसका पति कहाँ है, अथवा क्या वह परित्यक्ता है ? मुझे अधिक सम्भावना यही मालूम हुई कि वह परित्यक्ता ही है क्योंकि यदि पति से उसके सम्बन्ध स्थिर होते तो वह स्वयं या उसके पत्र आदि कामिनी के

पास अवश्य आते। मैं जितना भी इस प्रश्न पर विचार करता था, उतना ही इस नतीजे पर पहुँचता कि वह परित्यक्ता ही है और यह सोच कर कि वह परित्यक्ता है, मुझे एक प्रकार से प्रसन्नता ही होती थी क्योंकि वैसी स्थिति में मैं उसके मन को बदलने की आशा रख सकता था।

दीक्षित जी अभी तक सोये नहीं थे। उन्होंने विचार-मग्न मुझे देखा तो बोले, "क्यों ज्ञानेन्द्र, तुम्हारा क्या ख्याल है मेरे आज के इस निर्णय के बारे में?"

"व्यक्तिगत दृष्टि से वह एक सराहनीय कार्य है लेकिन आप यह तो आशा नहीं कर सकते कि यह एक व्यावहारिक हल है?"

"मतलब!"

"मतलब यही कि आप जैसे दो-एक व्यक्ति ही इतने उदार हो सकते हैं जो अपने अधिकार को स्वेच्छा से छोड़ दें। आप सभी व्यक्तियों को इतना उदार और सहिष्णु तो नहीं बना सकते।"

मेरी इस टीका से दीक्षित जी के चेहरे पर दुख की छाया बिखर गयी। मैंने अपनी टीका का रुख बदलते हुए कहा, "लेकिन आपने यह जो उदाहरण पेश किया है, वह वास्तव में अनोखा है, वह दूसरों के लिए अनुकरणीय भी हो सकता है।"

"हाँ, भाई!—मैं यही तो चाहता हूँ", "दीक्षित जी मेरी अंतिम बात से उत्साहित होकर बोले, "समस्या का एक हल यह भी तो हो सकता है, या यों कहूँ, अंशतः यह भी एक निदान है। मैं तो जीवन में सदा आदर्शवादी रहा हूँ और मुझे तो यह आदर्शवादी हल ही उचित जँचता है। भला बताओ, लोग इस तरह तैयार हो जायें, तो कितनी सिरफुटौवल बच सकती है?"

उस समय मैं थका-माँदा था। दीक्षित जी अपने विचार सुनाते रहे और मैं उनको सुनते-सुनते कब सो गया—ख्याल नहीं रहा।

वैशाख की धूप अब तेज होने लगी थी, मैं करीब दस बजे ही कामिनी के निवास-स्थान पर पहुँच गया। उस समय उसने भोजन नहीं किया था, मुझे अपने अध्ययन-कक्ष में बिठाकर वह भोजन करने चली गयी। कामिनी का वह अध्ययन-कक्ष उसके निवास-स्थान के पश्चिमी छोर पर था। वह एक छोटा-सा कमरा था जिसमें दो अलमारियाँ रखी थीं। उन अलमारियों में बहुत कम पुस्तकें थीं लेकिन चुनी हुई ही थीं। मैं उन पुस्तकों को देखने लगा। अधिकांश पुस्तकें कविताओं की थीं—हिन्दी और अँग्रेजी के प्रायः सभी अच्छे कवियों के संग्रह वहाँ थे। कामिनी काव्य-प्रेमी है, इसीलिए भावुक है, अथवा यों कहिये भावुक है, इसलिए काव्य-प्रेमी है। कमरे के बीच में एक छोटी-सी 'रायटिंग मेज' रखी थी, जिसके इर्द-गिर्द दो-तीन फोल्डिंग कुर्सियाँ थीं। एक 'ईजी चेयर' भी थी। कामिनी जब फिर से कमरे में आयी, तब मैं 'इजी चेयर' पर आँखें मूँदे पड़ा था। कामिनी की पद-चापें सुनीं, तो आँखें खुल गयीं।

वह हाथ में अलबम लिए थी और उसका एक विशेष पृष्ठ खोलकर मेरी ओर बढ़ाते हुए वह बोली, "आप यह फोटो शायद पहले भी देख चुके हैं?"

मैंने देखा, वह एक सुन्दर नवजवान का फोटो था—उस फोटो का ही बड़ा आकार 'ड्राइंग रूम' की दीवार पर लगा था। मैंने कहा, "हाँ मैं इस फोटो को कई बार देख चुका हूँ। शायद यह आपके किसी सम्बन्धी की·····।"

"यही वह व्यक्ति है जिससे मैंने विवाह किया था।" कामिनी एक कुर्सी पर बैठ गयी। उसकी आँखों में उस समय ऐसी आभा उभर आयी थी जो मैंने पहले कभी नहीं देखी थी। मैं उसके हर शब्द को ध्यान से सुन रहा था और उसका सही अर्थ समझने की चेष्टा कर रहा था। कामिनी ने 'अलबम' के पृष्ठ पलटते हुए कहा, "विश्वास मानिये, मैंने कभी किसी से इस बात का जिक्र नहीं किया कि मैं विवाहिता होकर भी क्यों अविवाहिता का जीवन बिता रही हूँ। इसके पूर्व ऐसा कोई अवसर भी उपस्थित नहीं हुआ था कि मैं वह सब बताती, लेकिन आज मैं यह अनुभव कर रही हूँ कि मुझे आपको बता देना चाहिए। पिछले छः-सात दिन जब आप नहीं आए, तब मैं इसी उद्विग्नता में रही। बुरा न मानिएगा, मैं पहले आप पर, आपकी उस हरकत पर बहुत नाराज हुई थी लेकिन जब क्रोध कुछ कम हुआ तो मैंने इस प्रकरण पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। तब मुझे लगा कि आपने जो व्यवहार किया, वह सम्भवतः अज्ञानावस्था में ही किया। यदि आपको मेरी परिस्थितियों का पूरा ज्ञान होता, तो आप वैसा न करते।

"इस पृष्ठभूमि में मैंने जब आपके व्यवहार पर पुनर्विचार किया तो मुझे आपका अपराध उतना गम्भीर नहीं जान पड़ा। आखिर मैंने आपको अपनी परिस्थितियाँ बतला देना ही ठीक समझा। लगभग सात वर्ष की बात है। मैंने बी० टी० का कोर्स पूरा किया था और एक नौकरी के लिए 'इन्टरव्यू' देने मैं देहली जा रही थी। ट्रेन में मैं जिस कम्पार्टमेन्ट में बैठी, उसमें ही एक युवक भी सफर कर रहा था। मेरा परिचय उस युवक से हुआ जो आकर्षक होने के साथ ही साथ काफी शिक्षित जान पड़ता था। वह हँसमुख और बातूनी स्वभाव का था और उसने बहुत शीघ्र ही मुझसे परिचय प्राप्त कर लिया। वह भी

किसी काम से देहली जा रहा था। चूँकि मैं पहली ही बार देहली जा रही थी, मुझे एक ऐसे परिचित व्यक्ति की जरूरत थी जो देहली में मेरी मदद कर सकता। उस युवक ने मेरी यह जरूरत पूरी की। उसका व्यवहार और तौर-तरीके ऐसे थे कि मैं उस पर विश्वास कर सकती थी। देहली में मुझे दो दिन ठहरना था। उसने वहाँ मेरे ठहरने की व्यवस्था की। उसके कारण देहली में मुझे कोई कठिनाई महसूस नहीं हुई। मेरा 'इन्टरव्यू' अच्छा हुआ था और मुझे उम्मीद थी कि मैं इस नौकरी के लिए चुन ली जाऊँगी। जब मैं देहली से रवाना होने लगी, तो वह युवक मुझे 'सेन्ड ऑफ' देने प्लेटफार्म पर आया।

"मुझे कानपुर लौटना था और जिस गाड़ी से मैं लौटने वाली थी, संयोगवश वह तीन घंटे 'लेट' थी। सर्दियों के दिन थे। मुझे उस सर्दी के मौसम में 'विश्रामकक्ष' में तीन घंटे काटने थे लेकिन वह युवक उस समय भी साथ था, इसलिए मुझे समय काटना मुश्किल न हुआ। हम लोग तीन घंटे तक गपशप करते रहे और उसी समय मुझे ख्याल आया कि मैंने अभी तक उस युवक का पूरा परिचय जानने की भी कोशिश नहीं की थी। देर से ही सही, लेकिन मैंने उसका परिचय जान लेना उचित समझा। मैंने परिचय जानना चाहा तो वह ठहाका मारकर हँस पड़ा। बोला—'क्या यह जरूरी है?' मैंने कहा, 'जरूरी क्यों नहीं है? दरअस्ल यह बात तो मुझे पहले ही मालूम कर लेनी चाहिए थी।' उसने कहा, 'जब दो दिन इस औपचारिक परिचय के बगैर भी हमारा काम चल सका, तो आगे भी काम चल सकता है।' यूँ वह परिचय के उस प्रसंग का मखौल उड़ा रहा था और उतना ही मैं हठ पकड़ते जा रही थी। आखिर उसने बताया, उसका नाम सी० एम० मिश्रा है यानी वह मेरी ही जाति का था। हम एक ही जाति के हैं—यह मुझे अब तक ज्ञात नहीं था, लेकिन उस क्षण जब मुझे

एकाएक यह ज्ञात हुआ तो मेरे मस्तिष्क में यह ख्याल भी आया कि हमारी यह मैत्री स्थायी रूप भी ग्रहण कर सकती थी। शायद वह युवक मेरे इस ख्याल को भाँप गया, सम्भवतः मेरे हाव-भाव में भी एकाएक परिवर्तन हो गया हो।

"गाड़ी प्लेटफार्म पर आ गयी थी और मैं एक 'सेकंड क्लास कम्पार्टमेन्ट' में बैठ गयी थी। गाड़ी जब चलने लगी, तो मैंने अपने उस युवक मित्र से कहा, 'दो दिन आपके साथ रहने से मुझे बहुत सहूलियत रही, अब अकेली जा रही हूँ तो जाने क्यों भय मालूम हो रहा है।' प्रत्युत्तर में उसने तपाक् से कहा, 'आज्ञा दें, तो मैं आपको कानपुर पहुँचा दूँ।' मैंने भी उसी तत्परता से कहा, 'चलिए न।' वह 'कम्पार्टमेन्ट' के भीतर घुस आया और बोला, 'जैसी आपकी आज्ञा, मैं आपके साथ चलूँगा।, मैं समझी, वह मजाक कर रहा है, लेकिन नहीं, वह तो सचमुच एक 'बर्थ' पर जमकर बैठ गया। गाड़ी प्लेटफार्म को छोड़ने लगी तो मैं चिंतित हुई, लेकिन उसने जेब से टिकिट निकाल कर बताते हुए कहा 'मुझे मालूम था, मुझे आपके साथ कानपुर जाना होगा, इसलिए मैंने यह टिकिट पहले से निकाल ली थी।'

"ऐसा ही व्यक्ति था वह। कानपुर वह मुझे सिर्फ़ पहुँचाने आया था, लेकिन एक सप्ताह हो गया, उसने लौटने की बात नहीं की। हमारे बीच अब बहुत घनिष्टता हो गयी थी और मैं चाहती थी कि वह पापा से मिल ले ताकि हम लोगों के सम्बन्ध को उनकी स्वीकृति भी प्राप्त हो जाए। लेकिन जाने क्यों, वह पापा से मिलने के अवसर को टाल जाता था। वह कहता, 'क्यों कमो, तुम्हारे पापा तुम्हारी मरजी के खिलाफ तो जायेंगे नहीं। आख़िर तुम पढ़ी-लिखी लड़की हो और अब तो वयस्क भी हो गयी हो, तुम अपना जीवन-साथी खुद चुन सकती

हो। तुम्हें किसी की स्वीकृति-अस्वीकृति की परवाह न होनी चाहिए।' मैंने उसको समझाने की चेष्टा की लेकिन उसने मेरी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया।

"मैं यह स्वीकार करती हूँ कि उसके व्यक्तित्व में एक जबरदस्त आकर्षण था। यों वह दुनिया के सामान्य तौर-तरीकों के प्रति लापरवाह भी था, सिर्फ अपनी भावनाओं की क़द्र करता था। वह दकियानूसी ख्यालों और रूढ़ियों से घृणा करता था, जब कि मैं समझौते का मार्ग बेहतर समझती थी, लेकिन धीरे-धीरे उसने मुझे भी अपने पक्ष में कर लिया। कई दिनों से वह 'सिविल मैरिज़' करने के लिए मुझसे अनुरोध कर रहा था। उसका तर्क था कि पुराने रस्मोरिवाज से विवाह करने में क्या लाभ, समय और धन का फ़िज़ूल खर्च ही तो है। मैं उसके प्रस्ताव को अब तक टालती आ रही थी। उस दिन मेरी नियुक्ति का आदेश आ गया। मुझे एक सप्ताह के दरम्यान में अपने पद का कार्य-भार ग्रहण कर लेना था। उसने इस मौके पर मुझसे कहा, 'पद का कार्य-भार ग्रहण करने के पहले विवाह हो जाय, तो अच्छा रहे।' समय बहुत कम था और इतने कम समय में पुरातन पद्धति से विवाह नहीं किया जा सकता था। इस स्थिति में मैंने, 'सिविल मैरिज़' करना स्वीकार कर लिया।

"यह विवाह गैररस्मी तौर पर हुआ था, किसी को भी निमंत्रित नहीं किया गया था। मुझे इस तरह का विवाह खटका अवश्य लेकिन मैंने सोचा था, बाद में सब ठीक हो जाएगा, परिस्थितियों के आगे मैं लाचार हो गयी थी। मैं अपने विवाह की सूचना पापा को एक पत्र द्वारा देना चाहती थी। 'मैंने लेटर पैड' उठाया और चूँकि मेरा पेन उस समय दुरुस्त नहीं था, इसलिए मैं दूसरे पेन की तलाश करने लगी। कमरे में उसका कोट टँगा था। उस समय वह 'बाथ-रूम में

था। मैं उसके कोट की जेब से पेन निकालने लगी, तो पेन के साथ ही एक पत्र बाहर निकल आया। अकस्मात ही मेरी दृष्टि पत्र के ऊपर लिखे पते पर गयी। पत्र सी० एम० चड्ढा के नाम था। मुझे यह विचित्र लगा और मैंने पते को गौर से पढ़ा लेकिन उसमें कोई फर्क नहीं पड़ा। मैं हैरान हो गयी। मैंने क्षण भर में कोट की सारी जेबें तलाश लीं। मुझे कई प्रमाण मिल गये। वह व्यक्ति मिश्र नहीं चड्ढा था। ओह, मेरे साथ कितना भयानक धोखा किया गया था।

"काश, यह रहस्य मुझे कुछ देर पहले मालूम हो जाता तो मैं क्यों कर उस व्यक्ति से विवाह करती? लेकिन भाग्य में शायद यही बदा था। अब मुझे मालूम हुआ कि चड्ढा क्यों 'सिविल मैरिज' के लिए ही दबाव डाल रहा था। थोड़ी देर बाद वह 'बाथरूम' से बाहर निकला। वह मुस्कराता हुआ मेरी ओर बढ़ा। मेरे हाथ में अभी भी वे सब प्रमाण थे, जो उसकी कलई खोल देते थे। उसने मेरे चेहरे का कठोर भाव देखा और परिस्थिति समझ गया। लेकिन इससे वह लेशमात्र भी हतोत्साहित नहीं हुआ; बोला, 'यह अच्छा हुआ कि तुमने खुद ही मालूम कर लिया, वास्तव में मैं तुम्हें बताना चाहता था।' मैंने उससे पूछा 'आपने मुझे धोखे में क्यों रखा? आपको यह बात विवाह से पूर्व बता देनी चाहिए थी। आपने मेरे साथ छल किया है।' वह मेरा रुख देखकर चिंतित-सा हो गया, बोला, 'तुम मुझे समझने की कोशिश करो। मेरी मंशा कभी भी तुम्हें धोखा देने की नहीं रही, मेरा प्यार धोखा नहीं है।' लेकिन मैंने उसकी एक बात नहीं मानी। मैंने उसी क्षण उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। उसने उस समय और बाद में भी बहुत कोशिश की कि मैं उसे क्षमा कर दूँ; लेकिन मैं उसे कभी क्षमा नहीं कर सकी और मैं जानती हूँ, मैं उसे कभी क्षमा नहीं कर सकूँगी।"

कामिनी अपनी बात कहते हुए बहुत उत्तेजित हो गयी थी। वह काँप रही थी। मैंने अनुभव किया कि उसके साथ सचमुच बहुत अन्याय हुआ है लेकिन उस अन्याय का प्रतिकार जिस ढंग से कामिनी कर रही थी, वह मुझे उचित नहीं जान पड़ा। कामिनी ने तो दूसरे के अपराध के लिए स्वयं को ही दंडित किया था। मैंने कामिनी से पूछा, "तुमने तलाक देकर इस सम्बन्ध को तोड़ क्यों नहीं दिया?"

वह बोली, "हाँ, ऐसी परिस्थिति में यह एक उचित कदम होता लेकिन मैंने इसे पसन्द नहीं किया, मेरी आत्मा को वह स्वीकार नहीं हुआ। नियति को शायद यही मंजूर था। मैंने भाग्य के इस फैसले को स्वीकार करना ही ठीक समझा। पापा की भी यही राय थी कि मैं तलाक देकर दूसरे विवाह के लिए तैयार हो जाऊँ पर मैं वैसा नहीं कर सकी, न वैसा कभी कर सकूँगी। मैं मानती हूँ, मैं एक कमजोर लड़की हूँ।"

"क्या इस बीच फिर कभी चड्ढा से आपकी मुलाकात हुई थी?"

"नहीं, उसके बाद मैंने उसका कभी चेहरा नहीं देखा। अलबत्ता हर वर्ष विवाह की वर्षगांठ के दिन उसका तार आता है जिसमें केवल यह लिखा होता है—'मैं तुम्हारा प्रतीक्षा कर रहा हूँ।'" "इसका मतलब है, चड्ढा ने दूसरा विवाह नहीं किया।" "मुझे नहीं मालूम। उसने यदि दूसरा विवाह किया भी होगा तो मैं न्यायालय के दरवाजे नहीं खटखटाऊँगी।"

दोपहर ढल चुकी थी। कामिनी चाय लेने भीतर गयी। मैंने कमरे की एक खिड़की खोल दी। कामिनी जब चाय लेकर आयी, तब मैंने कहा, "यदि मुझे आपको परामर्श देने का अवसर मिला

होता, तो मैं आपसे यही कहता कि आपको जाति का इतना विचार नहीं करना चाहिए था।"

"लेकिन यह विश्वासघात.....।"

"वह सम्भवतः उसकी लाचारी थी, उसके प्रेम की लाचारी। यदि आप पहले ही जानतीं कि वह परजातीय है, तो आप उसको कभी अपना न सकतीं।"

"लेकिन बाद में भी तो यही हुआ!"

"हाँ, पर यह उसने न सोचा होगा कि आप विवाह होने के बाद भी इतनी सख्त रहेंगी।"

कामिनी पैर के अंगूठे से फर्श पर लकीरें बना रही थी। उसने कुछ नहीं कहा। बहुत देर तक हम दोनों ही चुप रहे। मेरे हृदय में कामिनी के प्रति दया का भाव था लेकिन आश्चर्य तो यह था कि मैं उस व्यक्ति के प्रति अधिक सहानुभूति अनुभव कर रहा था जिसने कामिनी को धोखा दिया था। साँझ को जब कामिनी से विदा लेते हुए मैंने कहा, "शायद यह हमारी आखिरी मुलाकात है। कल मैं यहाँ से चला जाऊँगा और संभवतः फिर कभी न आ सकूँ।"

कामिनी का चेहरा स्याह पड़ गया था। वह दुखित जान पड़ रही थी लेकिन उसने अपने दुख को शब्दों में प्रकट नहीं होने दिया। उसने कहा, "यह अच्छा है कि हम अच्छे मित्र की तरह ही विदा हो रहे हैं। आपको कभी मौका मिले तो आप यहाँ जरूर आइयेगा, आपके स्वागत के लिए मेरे घर के द्वार सदा खुले रहेंगे।" उसने अपनी आँखों पर आँचल ढँक लिया था। शायद उसकी आँखों में आँसू छलक आये थे और वह अपनी कमजोरी मेरे सामने प्रकट नहीं करना चाहती थी।

मैं मुड़ा और तेजी से अपने रास्ते पर चल पड़ा।

मैंने दूसरे दिन प्रातःकाल "नयी रचना" से जाने का निश्चय किया था लेकिन मैं वहाँ से चुपचाप चला आना चाहता था। इस कारण मैंने यह ठीक समझा कि रात की ट्रेन से ही वहाँ से प्रस्थान कर दूँ। जाने क्यों, मैं वहाँ अब रुकना भी नहीं चाहता था। शाम को एक बैलगाड़ी स्टेशन की ओर जा रही थी। मैंने दीक्षित जी से कहा, "पंडितजी मैं आज ही जाना चाहता हूँ।"

वह चौंक कर बोले, "अरे, तुमने एकाएक यह क्या निश्चय कर लिया?"

मैंने कहा, "देखिए, आप मुझे रोकिये मत। मुझे आज्ञा दीजिए।"

वह बोले, "जब तुम जाने पर उतारू ही हो, तो मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा लेकिन एक बात याद रखो, तुम्हें शीघ्र ही यहाँ लौट कर आना होगा।"

मैंने कहा, "आप मुझसे वचन मत लीजिए। जाने आ सकूँ?"

उन्होंने कहा, "देखो, ज्ञानेन्द्र, मैं यह स्वीकार ही नहीं कर सकता, कि तुम यहाँ लौटकर न आओगे।...नहीं, तुम्हें आना होगा। जाने क्यों, मैं तुम्हें इतना चाहने लगा हूँ। वैसे मेरी कोई सन्तान नहीं है और मैं जानता भी नहीं हूँ, सन्तान का प्रेम क्या होता है। लेकिन मैं तुम्हारे प्रति वही अपनत्व महसूस करता हूँ जो शायद कोई पिता अपने पुत्र के प्रति अनुभव करता होगा।"

आखिर मुझे वचन देना ही पड़ा कि मैं अवकाश मिलते ही फिर "नयी रचना" आऊँगा।

रात्रि में मैं इटारसी आ गया। इटारसी में ट्रेन बदलती थी। एक विचार आया कि लखनऊ लौट जाऊँ, लेकिन शीघ्र ही जो ट्रेन मिली, वह मद्रास की ओर जा रही थी। मेरी जिन्दगी तो यूँ भी एक ऐसी किश्ती रही है जिसे कभी पतवार की जरूरत नहीं रही, मौजों ने जिधर मोड़ दिया, उधर वह चल दी। मैं मद्रास में लगभग एक पखवाड़ा रहा और उसके बाद जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहा। इस लक्ष्यहीन भ्रमण की अलग कहानी है लेकिन मैं अभी जो कहानी सुना रहा हूँ, उसका तारतम्य यूँ जुड़ा कि भ्रमण करते हुए मैं बम्बई भी पहुँचा। बम्बई में निरुद्देश्य ही पहुँचा था, पर अकस्मात् ख्याल आया कि बम्बई में वह व्यक्ति भी रहता है जिसने कामिनी के साथ विवाह किया था। उसने कामिनी को अपना बम्बई का पता दे रखा था। वह एक होटल था। कामिनी ने मुझे बताया था, उसमें वह स्थायी रूप से रहता था। मुझे उस व्यक्ति को देखने की उत्सुकता तो थी ही, इस कारण मैं बम्बई में उसी होटल में ठहरा जिसमें वह मिल सकता था। वह एक बहुत बड़ी होटल था। मैंने मैनेजर से पूछा, होटल में मिस्टर चड्ढा भी रहते हैं ?"

"कौन चड्ढा ?···यहाँ तो कोई चड्ढा नहीं रहते आपको शायद गलत पता बताया गया है।"

सम्भव है, पता गलत ही हो, मैंने सोचा मैं निश्चयपूर्वक तो कह नहीं सकता था। इसके बाद मैंने चड्ढा का पता-ठिकाना मालूम करने की कोई चेष्टा नहीं की क्योंकि बम्बई जैसी विशाल नगरी में किसी निश्चित सूत्र के बिना किसी व्यक्ति को खोज निकालना असम्भव था। मैंने इस बात को अपने मस्तिष्क से हटा दिया था और अब इरादा यह था कि कुछ दिन बम्बई की सैर करने के बाद लखनऊ लौटा जाय।

बम्बई आये मुझे करीब एक सप्ताह हो गया था। यहाँ मैंने खूब सैर की थी। सबेरे ही निकल जाता था तो आधी रात को ही लौटता था। वहाँ दो-एक परिचित और मिल गये थे जिनके साथ मैं समुद्र के किनारे पर घंटों बैठा रहता। सुबह मैं हॉटेल की चौथी मंजिल से उतर रहा था। अक्सर मैं जिस मार्ग से उतरता था आज उस मार्ग से न उतर कर दूसरे मार्ग से उतरा। दूसरी मंजिल पर सामने ही एक कमरा था, जिस पर एक 'नेम प्लेट' टँगी थी। मेरा ध्यान उस 'नेम प्लेट' पर गया। मैं पढ़ गया, सी० एम० मिश्र। मुझे ख्याल आया कि यह नाम तो मैंने कहीं सुना है और फिर मैंने अपने मस्तिष्क पर थोड़ा ही जोर डाला तो मुझे अच्छी तरह स्मरण हो आया, चड्ढा ने ही तो खुद को मिश्र जाहिर कर रखा था! अब मुझे अपनी भूल मालूम हुई, इस हॉटेल में भी उसने खुद को मिश्र ही जाहिर कर रखा था जो चड्ढा के नाम से पूछने पर वह मैनेजर बता न सका था।

मुझे इस बात की प्रसन्नता हुई कि आखिर मैं उस व्यक्ति से मिल सकूँगा जिससे मिलने के लिए मैं इतना उत्सुक था। मैं बढ़कर उस कमरे के सामने पहुँचा लेकिन उसमें ताला लगा हुआ था। उस समय उस कमरे में कोई नहीं था।

मुझे बाद में मालूम हुआ कि वह किसी काम से मद्रास गया हुआ है। मैंने उसकी प्रतीक्षा करना ही उचित समझा। उम्मीद थी कि वह एक सप्ताह में आ जाएगा, लेकिन दो सप्ताह गुजर गए वह नहीं लौटा। मुझे भ्रम होने लगा, वह अब कभी लौटेगा भी या नहीं। मैं प्रतिदिन सुबह-शाम उसके कमरे को देख लेता था, लेकिन सदा उस कमरे को वैसा ही बन्द पाता था। वह आषाढ़ माह की सुबह थी। रात को पानी बरसा था और सुबह भी आसमान में बादल छाये हुए थे। मैं जरा देर से सोकर उठा था और गुसल से निबट कर कमरे से

बाहर निकला। मैं तीसरी मंजिल की सीढ़ियाँ उतर ही रहा था कि दूर से ही मेरी दृष्टि चड्ढा के कमरे पर पड़ी, कमरे के दरवाजे खुले थे। कमरे से कहकहों की आवाज आ रही थी। शायद रात को लौट आया था।

मैं अपनी उत्सुकता को दबा न सकने के कारण फौरन ही उससे मिलने के लिए तत्पर हो गया। कमरे का दरवाजा खुला ही था, मैंने पूर्व सूचना देनी आवश्यक नहीं समझी। सीधा उसके कमरे में प्रविष्ट हो गया।

लेकिन मैंने उस समय उसे जिस अवस्था में देखा, उससे मुझे अपनी गलती महसूस हुई—मुझे बिना पूर्व सूचना दिये कमरे में दाखिल न होना चाहिए था। चड्ढा 'इजी चेयर' पर पैर फैलाये बदहवास पड़ा हुआ था और चेयर के हत्थे पर कोई औरत बैठी थी जो उस समय अर्ध नग्न अवस्था में थी। सामने छोटी गोलमेज पर बोतल और प्यालियाँ ढुलकी पड़ी थीं। चड्ढा उस औरत पर झुका हुआ था और उसने मेरी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वह औरत शायद कोई एंग्लो इंडियन छोकरी थी। वह भी बदहवास थी। उसने भी शायद पी ली थी। मैं पेशोपेश में पड़ा। क्षण भर वहीं खड़ा रहा। आखिर मैंने यही तय किया कि इस समय उससे मिलना ठीक नहीं। मैं लौटने को हुआ तो एकाएक उसकी निगाह मुझ पर पड़ी। वह चिल्लाया, "कौन हो तुम ?"

मैं उसकी ओर मुड़ गया। अब जाना ठीक न होगा, यह सोच कर मैं उसके करीब जा खड़ा हुआ। उसने मुझ पर एक सरसरी निगाह डाली और फिर लापरवाही से बोला, "कोई खास काम है ?"

"नहीं, मैं यूँ ही मिलने चला आया था। मैं इसी हॉटेल में ठहरा हूँ।"

वह उछल कर 'इजी चेयर' छोड़ खड़ा हो गया और मेरे हाथ को अपने हाथों में दबाते हुए उत्साहपूर्वक बोला, "तुम दोस्त हो।"

उसने मुझे उसी 'इजी चेयर' पर बिठाया, जिस पर कुछ देर पहले वह बैठा हुआ था। वह एंग्लो इंडियन छोकरी चेयर के हत्थे पर अभी भी बैठी हुई थी। चड्ढा ने उसके कंधे पर धौल मारते हुए कहा, "हमारे दोस्त की खातिरदारी करो, एनी।"

उस छोकरी ने मेरी ओर मुस्कराकर देखा। फिर वह गयी और मेज की दराज में से एक बोतल निकाल लायी। चड्ढा ने बोतल का कार्क तोड़ा और प्यालियाँ भर दीं। एनी प्याली लेकर मेरी ओर बढ़ी। मैंने आनाकानी की तो चड्ढा, चिल्लाया, "देखो, इन्कार मत करना। हम दोस्त बन चुके हैं और तुम इन्कार करोगे तो मुझे सदमा पहुँचेगा।...एनी तुम अपने हाथों से हमारे दोस्त को यह अमृत का घूँट पिलाओ।"

एनी मुस्कराती हुई मेरे निकट आई। उसने एक हाथ मेरे गले के गिर्द डाल दिया और मादक आँखों से मुझे घूरती हुई बोली, "पियो!"

मैंने उसके हाथ से प्याला ले ली और पीने लगा। चड्ढा ठहाका मार कर हँसा, बोला, तुम सही दोस्त हो!"

मैंने बहुत दिनों बाद शराब पी थी। एनी प्याली भरती गयी और मैं तब तक पीता गया जब तक कि होश खो न बैठा।

चड्ढा कोई पंजाबी लोक-गीत की धुन गुनगुनाने लगा था। उसने एक हाथ से एनी को उठा लिया था और तेजी से नाच रहा था। उसने मुझे भी हाथ का सहारा दिया और मैं भी उसके साथ नाचने लगा।

हम तीनों थिरक रहे थे। मुझे नशा चढ़ता जा रहा था और कमरा घूमता हुआ मालूम हो रहा था। मुझे नहीं मालूम, मैं कितनी देर तक कमरे में नाचता रहा।

जब मुझे होश आया, तब कमरे में घोर अँधेरा घिर आया था। मैं फर्श पर पड़ा था और मेरा सिर 'इजी चेयर' से टिका था। मेरे शरीर से लिपटी एनी सो रही थी। मेरे सिर में हल्का-सा दर्द हो आया था। एनी के शरीर को परे हटाकर मैं उठ खड़ा हुआ। चड्ढा कमरे में नहीं था। अपने वस्त्रों को झटकारते हुए मैं कमरे के दरवाजे की ओर बढ़ा लेकिन वह बाहर से बंद था। मैं चिन्ता में पड़ गया—यदि चड्ढा शीघ्र न आया तो मैं क्या करूँगा? लेकिन मुझे अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। कुछ देर बाद ही दरवाजा खुला और चड्ढा कमरे में दाखिल हुआ। उसने आते ही बिजली का 'स्विच ऑन' किया। कमरे में रोशनी हो गयी। बिजली के प्रकाश में मैंने चड्ढा को देखा, वह उस समय एक भिन्न ही व्यक्ति था। वह नीले रंग का सूट पहिने था और उसके अंग-अंग से ताजगी तथा स्फूर्ति फूटी पड़ रही थी। वह सुनहरी कमानी की ऐनक लगाये था और अँगुलियों के बीच चुरुट दबाये था। मुझसे उसने कहा, "मैंने अपने दूसरे प्रोग्राम स्थगित कर दिये हैं। आज मैं तुम्हारे साथ ही रहूँगा।" आगे बढ़कर वह वहाँ आया, जहाँ एनी पड़ी हुई थी। उसने उसके वस्त्र ठीक किये। उसके शरीर की गर्द दूर की तथा उसे अपनी दोनों बाहों में उठाकर सावधानी से बिस्तर पर लिटा दिया। उस समय वह बहुत अदब और कायदे से व्यवहार कर रहा था। उसने अपने जेब से पर्स निकालकर कुछ नोट लिये और उन्हें एनी की बंद मुट्ठी में ठूँस दिये, फिर उसके होठों का हल्का-सा चुम्बन लिया और बुदबुदाया, "सोओ, मेरी नन्हीं चिड़िया।"

वह मेरी ओर उन्मुख हुआ और बोला, "तुम जल्दी तैयार हो जाओ!"

वह मुझे क्लब में ले गया जहाँ वह आधी रात तक जुआ खेलता रहा। उसने मुझे भी खेलने के लिए निमंत्रित किया लेकिन मैं नहीं खेला। न जाने कितना रुपया वह हारा और जीता। वह बहुत जोश में था और उसे इस बात की कोई परवाह नहीं थी, कि वह हार भी सकता है। क्लब में जब श्मशान की शांति छा गयी, तब ही वह उठा। उस समय उसकी जेबें नोटों से भरी थीं। मैंने पूछा तुम कभी हारते भी हो?"

वह बोला, "मैं सदा हारने की प्रतीक्षा करता हूँ, पर मेरे दोस्त, इस दुनिया का ढंग ही निराला है। आप जीतने की इच्छा कीजिए, आपको जीत नहीं मिलेगी। मेरे साथ अक्सर यही होता है।"

हम रात्रि में करीब ३ बजे हॉटेल में पहुँचे। चड्ढा के कमरे का दरवाजा खुला था। उसने बिजली की 'स्विच ऑन' की। बिस्तर खाली था। एनी जा चुकी थी। बिस्तर पर एक 'चिट' पड़ी थी। चड्ढा ने "चिट" उठाकर एक ओर फेंक दी। मैंने उत्सुकतावश वह "चिट" उठा ली। उसमें लिखा था—'थैंक यू!'···एनी ही वह 'चिट' छोड़ गयी थी। चड्ढा बोला, "सभी लड़कियाँ परले सिरे की मूर्ख होती हैं!"

मैं अपने कमरे की ओर जाने लगा तो उसने मुझे रोका, बोला, "बम्बई में जब तक हो, तुम मेरे मेहमान रहोगे। तुम्हें मेरे साथ ही ठहरना होगा।"

मैंने उससे वादा किया कि मैं दूसरे दिन उसके कमरे में आ जाऊँगा।

मैं अपने वायदे के अनुसार दूसरे दिन सुबह उसके कमरे में पहुँचा। उस समय उसके सामने एक तरुण युवती बैठी थी। चड्ढा ने परिचय दिया, "कुमारी मीनाक्षी, लेकिन मैं इसे 'लाजो' कहता हूँ। तुम शरारत करके देखो, खुद जान जाओगे....."

कुमारी मीनाक्षी, जो कोई गुजराती लड़की थी, सचमुच बहुत झेंप रही थी और उसके चेहरे पर इतनी लाली फूट आयी थी कि उसका सौन्दर्य एक फूल की तरह मादक हो गया था। वह हल्के नीले रंग की साड़ी पहिने थी और यद्यपि उसके शृंगार में भड़कीलापन कहीं नहीं था, तथापि आकर्षण बहुत था। उसने मुझे दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया। मीनाक्षी की उपस्थिति में कमरे का वातावरण बदला हुआ था। बोतल और प्यालियाँ मेज से हटा दी गयी थीं और कमरे की सजावट में एक व्यवस्था भी ला दी गयी थी।

बेयरा चाय की ट्रे रख गया। मीनाक्षी ने ही चाय की प्यालियाँ तैयार कीं। उसके व्यवहार में बाजारू लड़कियों की सी चंचलता या शोखी नहीं थी। चड्ढा ने चाय की 'सिप' लेते हुए कहा, "लाजो के हाथ से तो यही बेस्वाद, बेमजा खातिरदारी मिल सकती है!"

करीब आध घंटे बाद मीनाक्षी चली गयी। उसके जाते ही चड्ढा ने बोतलें बाहर निकाल लीं और प्यालियाँ भरते हुए बोला, "आज तुम आये हो, आज हम जश्न मनायेंगे।"

मेरे मस्तिष्क में अभी भी मीनाक्षी का ख्याल था और कमरे में वह जो अपना असर छोड़ गयी थी, उससे मैं मुक्त नहीं हो पाया था। वह आखिर चड्ढा के पास किसलिए आती है? उसका चड्ढा से

कैसा सम्बन्ध हो सकता है ? मैंने उसके बारे में चड्ढा से कुछ नहीं पूछा। लेकिन अपने ढंग से समझने की चेष्टा करने लगा। मीनाक्षी एनी नहीं थी, वह एक भिन्न ही लड़की थी—ऐसी लड़की जो किसी कुलीन घर में ही पायी जा सकती थी, चड्ढा के कमरे में तो उसकी मौजूदगी अस्वाभाविक ही थी।

चड्ढा के पास कई तरह के लोग आते थे, लेकिन यह मीनाक्षी प्रायः रोज ही आती थी। पहिले वह मुझसे बहुत कम बातें करती थी लेकिन जब उसे मालूम हो गया कि चड्ढा मुझ पर विश्वास करता है, तो वह मुझसे अक्सर बातें करती। प्रायः यह भी होता था कि चड्ढा कमरे में न होता और उसकी प्रतीक्षा करते हुए वह मुझसे बातें करती रहती। अब मुझे यह अनुभव होने लगा था कि मीनाक्षी मुझसे कोई बात कहना चाहती है लेकिन जाने क्यों, कह नहीं पाती है। शायद इसकी वजह यह थी कि वह मुझ पर अभी तक इतना विश्वास नहीं कर सकी थी कि वह अपनी कोई गोपनीय बात मुझसे कहती अथवा यह भी हो सकता है कि स्वाभाविक लज्जा के कारण वह बात कहने का साहस नहीं जुटा पा रही थी।

इस बीच चड्ढा किसी व्यक्तिगत काम से दिल्ली गया था और तीन दिन बाद लौटकर आने वाला था। मीनाक्षी पिछले दो दिन इस ख्याल से आयी कि सम्भवतः चड्ढा ने अपना कार्यक्रम स्थगित कर दिया हो और लौट आया हो, लेकिन उसे निराश होना पड़ा। तीसरे दिन बारिश हो रही थी और मुझे उम्मीद थी कि मीनाक्षी आज नहीं आएगी लेकिन दोपहर को वह आ गयी। बारिश से वह बच नहीं सकी थी। उसके वस्त्र काफी भींग गये थे और चेहरे पर भी पानी की बूंदें पड़ी

थीं। मैंने कहा, "तुम बारिश में क्यों आयीं ? चड्ढा तो आज लौटने-वाला नहीं है।"

कुर्सी पर सिमट कर बैठते हुए वह बोली, "मैं समझती थी, वह आज लौट आये होंगे, लेकिन····।" वह खिड़की के बाहर देखने लगी। खिड़की के काँच पर बारिश की बूँदें लगातार गिर रही थीं।

कुछ क्षण हम दोनों ही चुप रहे। फिर मैंने कहा, "शायद तुम मेरे दोस्त को बहुत प्यार करती हो।"

प्रत्युत्तर में उसने कुछ नहीं कहा लेकिन उसका चेहरा आरक्त हो गया। मैंने आगे कहा, "मेरा दोस्त बहुत खुशनसीब है, जो···"

"लेकिन वह इस बात को कहाँ समझते हैं ?"

"यानी।"

"मैं उनसे कई बार कह चुकी हूँ कि हमें···"

वह एकाएक रुककर मेरा चेहरा देखने लगी। मैं बहुत ध्यान से उसकी बात सुन रहा था। वह धीरे से बोली, "हमें विवाह कर लेना चाहिए।"

"हाँ, ठीक तो है !" मैंने कहा।

"अब आप ही समझाइये न। मुझसे तो वह न जाने क्या-क्या बहाने कर देते हैं।" उसने एक ही साँस में जल्दी से पूरी बात कह दी। यही बात थी जो वह इतने दिनों से मुझसे कहना चाहती थी और आज मौका पाकर कह सकी थी।

मैंने कहा, "मैं उससे जरूर कहूँगा और मेरा ख्याल है, मैं उसे सहमत कर लूँगा। वह विवाह कर ले, तो उसकी जिन्दगी सँवर जावे।"

"हाँ, यही तो मैं चाहती हूँ। मुझे उनसे गहरी हमदर्दी है। न जाने क्यों, वह अपने को यों मिटाने पर तुले हैं। आप तो देखते ही हैं, वह कितनी शराब पीते हैं।" चूँकि उसने मूल बात कह दी थी, इसलिए अब वह दूसरी बातें निस्संकोच कह रही थी। मैंने उसी समय तय किया कि इसके लिए मैं चड्ढा को अवश्य समझाऊँगा। मीनाक्षी बता रही थी, "वह कहते हैं, हमारी जातियाँ भिन्न हैं, विवाह नहीं हो सकता। भला यह भी कोई बात है। एतराज तो मुझे होना चाहिए····"

इसी अवसर पर उसने बताया कि किस तरह वह चड्ढा के सम्पर्क में आयी थी। वह पहिले कोई नौकरी करती थी। इस नौकरी में 'बॉस' ने उसके साथ दुर्व्यवहार करना चाहा। उस ने अपने 'बॉस' की इच्छा पूरी नहीं की, परिणाम यह हुआ कि उसकी वह नौकरी छूट गयी। इस बीच किसी ने उसे चड्ढा के पास इस उद्देश्य से भेज दिया कि वह उसे दूसरी नौकरी दिला देगा। मीनाक्षी को नौकरी की सख्त जरूरत है क्योंकि उसकी माँ और छोटे भाई-बहिन उसी की आजीविका पर आश्रित थे। चड्ढा ने मीनाक्षी को देखा और तत्काल कह दिया, "मैं तुम्हारी कोई मदद नहीं कर सकता। तुम नौकरी करने के योग्य नहीं हो!"

मीनाक्षी की आँखों में आँसू छलक आए। चड्ढा घबरा गया। उसने मीनाक्षी को कुछ रुपये दिये और बोला, "सही बात तो यह है कि तुम्हें नौकरी नहीं, शादी करनी चाहिए।"

मीनाक्षी ने कहा "तुम मेरे लिए जो भी ठीक समझो वह तब कर दो।"

करीब छः माह से वह रोज चड्ढा के पास आती रही थी। चड्ढा उसके साथ बहुत कोमल बर्ताव करता था और अक्सर रुपया देकर उसकी मदद किया करता था। यों वह अपने उस मददगार से हार्दिक

प्रेम करने लगी थी। उसे विश्वास था, चड्ढा भी उससे प्रेम करता है। वह चड्ढा के कमरे में आती और उसका छोटा-मोटा काम करने लग जाती। उसे यह आशा थी कि अंततः चड्ढा उसके साथ विवाह कर लेगा। मन-ही-मन उसने चड्ढा को अपना पति मान लिया था। वह ऐसी ही भोली और पवित्र लड़की थी।

रात को मैं बहुत देर तक चड्ढा की प्रतीक्षा करता रहा लेकिन वह नहीं लौटा।

सुबह मेरी नींद किसी की तेज आवाज से टूटी। चड्ढा आ गया था और वह किसी पगड़ीधारी व्यक्ति से बहस कर रहा था। वह पगड़ीधारी व्यक्ति जो स्पष्ट ही कोई मारवाड़ी सेठ था, कह रहा था, "अरे भाई पेशगी कैसे दूँ ? पहले काम तो हो जाने दो।"

चड्ढा ने कहा, "देखिए रांकामलजी, मेरा ऐसा ही नियम है। मैं अपने काम का मेहनताना पहिले ही लेता हूँ। आपको मेरा यकीन न हो, तो आप दूसरे के पास जा सकते हैं। आपका काम न हो, तो आप मुझसे मेहनताना वापिस ले सकते हैं, पर यह जान लीजिए, मिश्रा जो काम हाथ में लेता है, उसे पूरा करता है। आज तक कभी ऐसा मौका नहीं आया जो मेहनताना लौटाना पड़ा हो।"

"मोहताजी के बारे में तो सुनते हैं, वो बहुत चोखे आदमी हैं। यह काम वह करेंगे।"

मोहताजी राज्य के उद्योग-मंत्री थे, चड्ढा को उससे क्या वास्ता हो सकता था ? मैं यद्यपि इतने दिनों से चड्ढा के साथ था, तथापि उसके व्यक्तिगत मामलों के बारे में अज्ञान में ही था। वह अक्सर बहुत व्यस्त रहता था लेकिन वह क्या करता है, मैं नहीं जान सका था, नहीं मैंने कभी जानने की चेष्टा ही की थी। वह अपने व्यक्तिगत कार्य इस ढंग से करता था कि दूसरे व्यक्ति को उसके बारे में कभी

कुछ मालूम न हो सकता था। अपने पत्र वह स्वयं ही खोलता था और उन्हें पढ़ कर आग के हवाले कर देता था। जो भी व्यक्ति उससे मिलने आता था, उसे वह अलग ले जाता था और एकान्त में उससे बातें करता था। वह अपने कार्यों को गुप्त रखने की कोशिश क्यों करता है?—मेरे मस्तिष्क में यह प्रश्न कई बार उठा था लेकिन मैंने कभी गम्भीरता से उस पर विचार नहीं किया था।

चड्ढा कह रहा था, "मैंने मोहता जैसे ईमानदार आदमी बहुत देखे हैं। आप चिन्ता न करें, रांकामलजी। आपका काम होगा और इन्हीं मोहताजी के मार्फ़त होगा, बस····"

रांकामल 'चेक' काटने लगा, तो चड्ढा ने टोक दिया, "मैं नगद रकम लेता हूँ।"

रांकामल बोला, "लेकिन मैं इस समय तो नगद रकम लेकर नहीं आया हूँ।"

"कोई बात नहीं, शाम को दे जाइएगा या कल सुबह···"

"लेकिन तब तक मेरा काम हो जाना चाहिए।"

"सेठजी मेरा नियम है·····"

"अच्छा, अच्छा, ।" रांकामल ने अनिच्छा से बटुआ निकाला और कुछ हरे नोट चड्ढा की ओर बढ़ाते हुए बोला, "देखो, काम जल्दी ही होना चाहिए।"

चड्ढा ने नोट गिने और लापरवाही से उन्हें कोट की जेब में रखते हुए बोला, "आप इत्मीनान रखिए! 'लाइसेंस' आज शाम तक आपको मिल जाएगा"

राँकामल कमरे से चला गया तो चड्ढा मेरे बिस्तर की ओर बढ़ा। उसका ख्याल था, मैं अभी भी सो रहा हूँ। मैं उसे शर्मिन्दा

नहीं करना चाहता था, फिर भी मैंने अभी आँखें मूँद कर सोने का उपक्रम करना फिजूल समझा। मुझे जाग्रत अवस्था में देखकर क्षण भर के लिए वह विचलित-सा हो गया, फिर तेजी से आगे बढ़कर वह बोला, "तो तुम सारी बातें सुन रहे थे !"

मैंने बिस्तर से उठते हुए कहा, "शायद तुम नहीं चाहते थे कि मैं तुम्हारी बातें सुनता लेकिन संयोग से मेरी नींद टूट गयी और मैंने तुम्हारी बातें सुन लीं। अब चारा ही क्या है ?"

पास पड़ी एक कुर्सी पर बैठते हुए चड्ढा बोला, "खैर, मुझे इस बात का अफसोस नहीं है कि तुमने मेरी बातें सुन लीं। तुम मेरे लिए खतरनाक आदमी हो भी नहीं सकते।"

"लेकिन तुम ऐसे काम क्यों करते हो ?" गम्भीरता-पूर्वक मैंने कहा, "तुम जानते हो, तुम खतरे की राह पर चल रहे हो। तुम जान-बूझ कर ऐसा क्यों करते हो ? तुम जैसे व्यक्ति के लिए···"

"सब बकवास है !" वह चिल्लाया, "मुझ जैसे व्यक्ति के लिए आज की दुनिया में कोई बेहतर जगह नहीं है। तुम समझते हो, मैं जो कर रहा हूँ, स्वेच्छा से कर रहा हूँ। नहीं मेरे मित्र, आज मुझ जैसे अधिकाँश व्यक्ति अपनी इच्छा के प्रतिकूल काम करने के लिए विवश होते हैं। मैं जानता हूँ, मैं जो काम कर रहा हूँ, उसमें बहुत खतरे हैं, जेल भी जा सकता हूँ। लेकिन मैं क्या करूँ ? मुझे कोई अच्छा काम, बेहतर जरिया मिला ही नहीं। मैं कोशिश कर चुका हूँ। मैं फटेहाल क्लर्क या ऐसा ही कोई व्यक्ति बन कर तो जी नहीं सकता था। मैं महत्वाकाँक्षी हूँ और योग्य भी हूँ। जब मुझे अपनी योग्यता के अनुकूल कार्य नहीं मिला तब मैंने यह पेशा चुना। मैं इस पेशे में सुखी हूँ···"

"शायद !"

"शायद नहीं, वाकई, मैं इस पेशे में खुशहाल हूँ। यह एक दिलचस्प पेशा है। मैंने खुद को 'सोशियल एडवायजर' जाहिर कर रखा है। मैं बेईमानी का हर काम पूरी ईमानदारी से करता हूँ और और उसका मेहनताना लेता हूँ। सच पूछो तो इस मामले में मैं एक-दम निष्कलुष हूँ। कलुष का दायित्व तो बेईमानी करने वाले तथा कराने वाले पर होता है। मेरा क्या ?"

"लेकिन यदि तुम विवाहित जीवन बिताते होते तो ?"

चड्ढा ने मेरे चेहरे को घूर कर देखा मानों मैंने वह बात किसी गूढ़ उद्देश्य से कही हो। वह बोला, "मैंने खतरे की राह सदा पसन्द की है। मैं गीदड़ की जिन्दगी से नफरत करता हूँ। मेरा यह पेशा तो शेरों का पेशा है, हाँ हाँ।" वह बेतहाशा हँसने लगा था।

यह अच्छा मौका था। मैंने चड्ढा से मीनाक्षी का जिक्र छेड़ते हुए कहा, "उससे विवाह क्यों नहीं कर लेते। अच्छी भली लड़की है और तुम्हें हृदय से चाहती है।"

चड्ढा गम्भीर हो गया। उसके चेहरे पर कठोर भाव उभर आया। वह बोला, "मैं उससे विवाह नहीं कर सकता।"

"क्या तुम उसे पसंद नहीं करते ?"

"नहीं, पसंद करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।"

"तो क्या तुम जाति-पाँति को मानते हो ?"

"यह बात तो मैं उसे टालने के लिए कहता हूँ। सही बात तो यह है कि मैं जाति के भेद-भाव का घोर दुश्मन हूँ।',

"तो और क्या बात है ?"

"तुम मुझे विवश मत करो। बस समझ लो, मैं विवाह नहीं कर सकता।"

इसके बाद वह कमरे में नहीं रुका, शीघ्र ही बाहर चला गया।

अजीब व्यक्ति था यह चड्ढा भी। मैं इतने दिनों उसके करीब रह कर भी उसको ठीक तरह समझ न सका था। सम्भवतः आदमी को ठीक तरह समझना उतना सहज भी नहीं है। वह अक्सर बहुत व्यस्त रहता था। दिन भर गायब रहता लेकिन रात्रि में मेरे साथ ही भोजन करता और फिर हम साथ ही सैर करते। रात में बम्बई की चौड़ी वीरान सड़कों पर घूमते हुए वह मेरे गले में हाथ डालकर कहता, "हम दो मदहोश सितारों की तरह इस सुनसान में घूम रहे हैं।"

मैं ठहाका मार कर हँस पड़ता। चड्ढा के साथ बम्बई में बितायी वे रातें कभी भुलायी नहीं जा सकतीं। उसके साथ जिन्दगी लहरों की तरह गुजर रही थी,—निश्चिंत ?

मीनाक्षी को आशा थी कि मैंने चड्ढा को विवाह के लिए अवश्य सहमत कर लिया होगा। दोपहर को वह यही सुनने आयी थी लेकिन मैंने उससे कहा, "मुझे बहुत कम उम्मीद है कि वह विवाह के लिए तैयार हो सकेगा। उसने कारण अभी स्पष्ट नहीं बताया है लेकिन अभी जितनी बातचीत हुई है, उससे यही लगता है, विवाह न करने के बारे में उसका निश्चय अडिग है।"

मीनाक्षी का चेहरा स्याह पड़ गया। कम्पित स्वर में उसने कहा, "मुझे उम्मीद थी कि आप कहेंगे तो वह मान जायेंगे, लेकिन···" वह बहुत मुश्किल से अपने आँसू रोक पा रही थी।

मैंने उसे सान्त्वना दी, "मैं उससे फिर कहूँगा और कोशिश करूँगा कि वह सहमत हो जाए।"

रात को जब चड्ढा आया तो मैंने उससे कहा, "जानते हो दोपहर को मीनाक्षी आई थी।"

"हाँ, आई होगी।" उसने इस बात में कोई रुचि न लेते हुए कहा।

"उसे पूरी उम्मीद है।"

"वह मूर्ख है।"

"क्या ऐसी श्रद्धा तिरस्कार के योग्य है?"

"तो तुम ही क्यों नहीं उससे विवाह कर लेते?"

"वह तो तुमसे विवाह करना चाहती है।"

"वह किसी भी पुरुष से विवाह करके सुखी रह सकती है।"

"लेकिन तुम क्यों इनकार करते हो?"

"क्योंकि मैं विवाहित हूँ।"

यह रहस्योद्‌घाटन मेरे लिए अप्रत्याशित नहीं था लेकिन मैं इस सम्बन्ध में जिज्ञासु था। मैंने कहा, "तुम औरत तो हो नहीं जो दुबारा विवाह नहीं कर सकते।"

"हाँ, मैं दुबारा विवाह कर सकता हूँ लेकिन सही बात यह है कि मैंने जिस लड़की से विवाह किया था, उसे सचमुच बहुत प्यार करता हूँ और उसने अभी तक इस विवाह को रद्द नहीं किया। मुझे उम्मीद है, हम विवाहित जीवन बिता सकेंगे।" चड्ढा अब तक कई प्यालियाँ खाली कर चुका था। वह ऊँचे स्वर में कहने लगा, "मैं उस लड़की का नाम नहीं बताऊँगा क्योंकि मैं उसे बदनाम नहीं करना चाहता। उससे मेरी मुलाकात ट्रेन की सफर में हुई थी। वह एक इंटरव्यू के लिए देहली जा रही थी। मेरे तौर-तरीकों ने उसे प्रभावित किया। वह छरहरे शरीर की लड़की थी, जो रूपवती न होने के बावजूद बहुत मासूम दिखती थी। आकांक्षाओं ने उसके व्यक्तित्व को बहुत प्रभाव-शाली बना दिया था।

"मैं उससे एक झूठ बोला, लेकिन जैसा कि कहा गया है, मैं आज भी मानता हूँ, मोहब्बत में सब-कुछ उचित है। मुझे जाने वह झूठ कैसे सूझ आयी। शायद मैं उससे सचमुच बहुत प्रेम करने लगा था। मैं एक पंजाबी हूँ। मेरा असली नाम है चड्ढा; किन्तु उस दिन उस लड़की को मैंने बताया मिश्र। जानते हो, यह क्यों किया। वह लड़की उत्तर प्रदेश के किसी ब्राह्मण-परिवार की लड़की थी। उसने कोई छानबीन नहीं की। शायद प्रेम में ऐसा ही होता है। दिल्ली में वह इंटरव्यू में सफल रही और उसे एक सरकारी ओहदा मिल गया। उसने मुझे अपने पिताजी से मिलाना चाहा। मैंने उसे टाल दिया। इसी तरह एक दिन हमारी 'सिविल मैरिज' भी हो गयी और जिन दिन यह मैरिज हुई, उसी दिन उसे मालूम हो गया, उसे धोखा दिया गया है—मैं उसकी जाति का नहीं हूँ। यह धोखा जानकर वह चाहती तो शादी को नामंसूख करा सकती थी लेकिन उसने यह नहीं किया। उसने जीवन भर के लिए वैधव्य स्वीकार कर लिया। उसने मुझे सदा के लिए त्याग दिया। मैं नहीं जानता कि अब वह मुझसे घृणा करती है। हाँ, शायद वह मुझसे घृणा करती है। लेकिन मैं पूछता हूँ ज्ञानेन्द्र मैंने क्या गलत किया था। मेरा नाम जाली था लेकिन मेरा प्रेम नकली नहीं था। वह यदि मुझे मौका देती तो मैं साबित कर देता कि मैं एक काबिल पति हूँ।"

मेरा हृदय चड्ढा के प्रति संवेदना से भर गया था। मैंने पूछा, "फिर तुमने दूसरी शादी क्यों नहीं की?"

ठहाका मारकर चड्ढा बोला, "क्योंकि इस दुनिया में वैसी लड़की दूसरी नहीं मिली।"

"तुम मीनाक्षी को सही बातें क्यों नहीं बता देते?"

"क्या तुम समझते हो, वह विश्वास कर लेगी? और एक बात यह भी है कि मैं उसका दिल तोड़ना नहीं चाहता।"

"यों कहो, तुम उससे अपना दिल-बहलाव करना चाहते हो।"

"तुम जो समझो।"

"ओह, तुम निष्ठुर हो।"

"इस दुनिया में जीना है तो ऐसा ही निष्ठुर बनना होगा।"

"यदि मैं मीनाक्षी को वस्तुस्थिति बता दूँ तो तुम्हें कोई एतराज तो न होगा।"

कतई नहीं। तुम अपने ढंग से काम करने के लिए स्वतंत्र हो—कम-से-कम मैं तो तुम्हारे मार्ग में रोड़ा अटकाना पसन्द नहीं करूँगा।"

इसके बाद मैंने उससे कोई बात नहीं की, लेकिन मन-ही-मन यह जरूर तय कर लिया कि मीनाक्षी की गलत-फहमी जरूर दूर कर दूँगा।

सुबह मैं मीनाक्षी की प्रतीक्षा कर रहा था। वह उस समय आई, जब कमरे में चड्ढा भी था। चड्ढा ने उससे कोई बात नहीं की। चड्ढा आज अपेक्षाकृत गम्भीर था। मीनाक्षी को देखते ही वह फौरन बाहर निकल गया। मीनाक्षी भी उसके साथ ही जाने लगी तो मैंने उससे कहा, "तुम ठहरो, तुमसे एक जरूरी बात कहनी है।"

वह रुक कर मेरे चेहरे के भाव को समझने की चेष्टा करने लगी।

मीनाक्षी ने कहा, "आप कोई बात कहने वाले थे न?"

"हाँ, मैं जो बात कहने वाला हूँ, वह तुमसे ही संबंधित है।"

"आपने अपने दोस्त से विवाह के बारे में चर्चा की थी?"

"हाँ, वही बता रहा हूँ। यह जान लो कि वह तुमसे विवाह नहीं कर सकता।

"यह तो आप पहले भी बता चुके हैं।"

मीनाक्षी के चेहरे पर निराशा का वैसा भाव नही था जैसे मैंने सोचा था। वह मुझसे जैसे इसी बात की आशा कर रही थी। मैंने कहा, "इसके लिए उसके पास विशेष कारण है जो उसने अभी तक तुम्हें नही बताया था। वह विवाहित है और दूसरा विवाह नही कर सकता।"

अपनी बात कह चुकने के बाद मैंने मीनाक्षी के चेहरे की ओर देखा लेकिन मेरे अनुमान के विपरीत उसके चेहरे पर निराशा का भाव नहीं था। मुझे ऐसा नहीं लगा कि वह किसी प्रकार विचलित हुई है। वह मौन रही, शायद वह कुछ सोच रही थी। फिर बोली, "आप यही बात कहना चाहते थे न ?"

"हाँ, मैं अपनी बात कह चुका हूँ। अब तुम इस आधार पर अपना मार्ग तय कर सकती हो।"

"ठीक है, मैं जाती हूँ।" वह कमरे से बाहर निकल गयी। उसके जाने के बाद मुझे कई प्रकार की शंकायें होने लगीं। बार-बार मेरे मस्तिष्क में यह विचार उठने लगा कि मैंने मीनाक्षी की आशायें तोड़कर ठीक नहीं किया है। मीनाक्षी हताश होकर कहीं आत्म-हत्या न कर ले। दिन भर मैं इसी दुश्चिन्ता में घिरा रहा।

चड्ढा मेरे चिन्ताग्रस्त चेहरे को देखकर भाँप गया, बोला, "आखिर तुमने लाजो की आशाएँ तोड़ ही दीं !"

"हाँ,—अब मुझे भी लगता है, मैंने ठीक नहीं किया।"

"नहीं, तुमने ठीक ही किया है, लेकिन मुझे तो दया आती है इस मीनाक्षी पर। वह अभी भी समझ जाये तो बहुत है।"

"तो तुम यह समझते हो, उसने मेरी बात पर विश्वास नहीं किया होगा ?"

चड्ढा ने कोई जवाब नहीं दिया। वह पत्र लिखने में व्यस्त था। जब उसने पत्र लिखकर समाप्त कर लिया, तब मुझसे बोला, "तुम मेडम वूल्सले को जानते हो न ?"

मैं एकाएक कोई उत्तर न दे सका, तो वह बोला, "अमा तुम उस अमरीकी महिला को नहीं जानते जो पिछले सप्ताह मेरे पास आयी थी ?"

"ओह, वह मोटी औरत जिसकी आँखें नीली हैं।" मैंने कहा।

"हाँ, मैं इसी औरत के बारे में कह रहा था। उसे एक अनोखा खब्त सवार हुआ है। वह आदिवासियों की जिंदगी देखना चाहती है। मुझसे भी चलने को कह रही है।"

"तो तुम जा रहे हो ?"

"हाँ, शायद अगले सप्ताह ही जाना पड़े। हम बस्तर जायेंगे, लेकिन मैं जाने के पूर्व एक काम कर डालना चाहता हूँ।"

"क्या ?"

"मैं लाजो का मामला निबटा देना चाहता हूँ।"

शाम को चड्ढा ने मेडम वूल्सले को निमंत्रित किया था।

मेडम वूल्सले करीब छः बजे शाम को आईं। वह एक आसमानी रंग का सूट पहिने थी और उनके चेहरे पर 'मेक अप' की गहरी तह थी।

उसी समय मालूम हुआ कि वह अभी तक अविवाहिता है—आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत करती है। आजीविका के लिए उसने पत्रकारिता का पेशा अपना लिया था। किसी अमरीकी पत्र के विशेष प्रतिनिधि के रूप में ही वह हिन्दुस्तान में नियुक्त थी। संवाद भेजने के अलावा वह कभी-कभार कुछ लेख भी लिख लेती थी जो

विवरणात्मक होते थे। चड्ढा से उसकी मित्रता न जाने किस तरह हुई थी, लेकिन वे बहुत गहरे दोस्त हो गये थे। चड्ढा ने बोतलें और प्यालियाँ मेज पर जमा दी थीं। मेडम वूल्सले निस्संकोच प्यालियाँ खाली कर रही थी। दो या तीन प्यालियाँ खाली करते ही वह खड़ी हो गयी और चड्ढा का हाथ पकड़कर नृत्य करने लगी। चड्ढा अँग्रेजी नृत्यों में दखल रखता था, वह मेडम वूल्सले का साथ पूरी निपुणता से दे रहा था। आधे घंटे बाद मेडम वूल्सले जब थक गयी, तब वह चड्ढा के कंधे पर हाथ डालकर सोफे पर ढुलक गयी। वह बोली, "मैंने अमरीका में सुना था, हिन्दुस्तानी लोग जंगली और असभ्य होते हैं; लेकिन यह झूठ है, यहाँ मिश्रा जैसे खुशमिजाज लोग भी हैं।"

चड्ढा हँसने लगा; बोला, "मैं तुम्हें वे लोग भी दिखाऊँगा, जो सचमुच जंगली और असभ्य हैं। हम अगले सप्ताह बस्तर चलेंगे।"

"क्या सचमुच?" मेडम वूल्सले की नीली आँखें प्रसन्नता से चमक उठीं, वह बोली, "तुम नहीं जानते, मुझे आदिवासियों की जिंदगी में कितनी दिलचस्पी है। मैं जब उन्हें देखती हूँ, तब रोमांचित हो उठती हूँ—एक स्वप्निल दृश्य-सा महसूस करती हूँ।" वह आवेश में आ गयी थी और अपनी ही धुन में बोलती जा रही थी, "सभ्यता और शिष्टाचार तो आदमी को मशीन का पुर्जा बना देते हैं। अमरीका में एक कुत्ता भी शिष्टाचारों का पाबंद है। सभ्यता और शिष्टाचार की जिंदगी एकदम नीरस होती है, एकदम आकर्षण रहित.....।"

कमरे का दरवाजा खुला और एक युवती दाखिल हुई। मैं उसे देखकर आश्चर्य में पड़ गया। वह मीनाक्षी थी। मैंने तो उसके अब कभी आने की उम्मीद ही नहीं की थी—कम से कम आज दूसरी बार

उसके आने की तो कोई सम्भावना ही नहीं थी। चड्ढा ने उसे देखा और मुस्करा कर बहुत आत्मीयतापूर्वक उसका स्वागत किया। मेडम वूल्सले को परे सरका कर वह उठ खड़ा हुआ। उसने मीनाक्षी को अपने पीछे आने का संकेत किया और दोनों कमरे से बाहर चले गये।

मेडम वूल्सले को यह बहुत अस्वाभाविक लगा और क्षण भर के लिए वह अत्यन्त क्षुब्ध हो गयी। फिर वह मुझसे बातें करने लगी। उसने आदिवासियों के नृत्य सीखे थे। वह उन आदिवासी नृत्यों की विशेषताओं का वर्णन करने लगी। चड्ढा करीब पन्द्रह मिनिट बाद लौट कर आया। वह अकेला ही था। मीनाक्षी को वह विदा कर आया था। उसके चेहरे पर कुटिल मुस्कान थी। वह आकर मेडम वूल्सले के बाजू में बैठ गया। और सहज ढंग से मेडम वूल्सले की बातों में दिलचस्पी लेने लगा।

मेरी आँखें झपकने लगी थीं। मुझे याद नहीं, उस रात कब तक मेडम वूल्सले चड्ढा के साथ रही। सुबह मैं उठा तब चड्ढा खर्राटे भर रहा था। वह करीब दस बजे उठा और उठते ही बोला, "क्या लाजो आई थी?"

मैंने कहा, "नहीं।"

"वह आती ही होगी, उसने सुबह आने के लिए कहा था।"

"मीनाक्षी तुम पर इतना विश्वास कैसे करती है?"

"मैं जानता हूँ, वह मुझे बहुत प्यार करती है। जब आदमी सचमुच प्यार करने लगता है, तब अविश्वास की गुन्जाइश नहीं रहती। वह मुझ से जब तक प्यार करती रहेगी, अविश्वास नहीं करेगी।"

चड्ढा गुसलखाने में घुस गया।

मीनाक्षी लगभग ग्यारह बजे आई। चड्ढा उसे लेकर बाहर चला गया। तीन या चार दिन तक लगातार ऐसा ही हुआ—दोपहर को मीनाक्षी आती और चड्ढा के साथ घूमने निकल जाती। मैं मीनाक्षी से बात करना चाहता था, लेकिन मुझे उससे बात करने का मौका ही न मिल रहा था। मेरा ख्याल है, चड्ढा जानबूझ कर मुझे उससे मिलने का मौका नहीं दे रहा था। मैंने यह बात भी अनुभव की कि चड्ढा इन दिनों मीनाक्षी की ओर विशेष ध्यान दे रहा है। जाने उसके दिल में क्या था? क्या वह उसके प्यार को सचमुच बहुत संजीदगी से समझने की चेष्टा कर रहा था?

वह मुझसे कोई बात छिपा रहा है, इस ख्याल ने मुझे बहुत क्षुब्ध कर दिया था और अब मैं बम्बई से जाने का इरादा करने लगा था। मैंने तय किया कि चड्ढा के साथ ही मैं भी लखनऊ के लिए रवाना हो जाऊँगा। चौथे दिन मीनाक्षी नहीं आई। मुझे यह अस्वाभाविक लगा और मैं दिन भर उसकी प्रतीक्षा करता रहा। उसके बाद दूसरे और तीसरे दिन भी वह नहीं आई। मैं चड्ढा से जिक्र करना चाहता था। पर चड्ढा इन दिनों बहुत व्यस्त था। वह बस्तर के इलाके में अधिक दिन रुकना चाहता था और इसके लिए पूरी तैयारी कर रहा था।

आखिर वह दिन आ गया, जब हमें बम्बई से रवाना होना था। टैक्सी में सामान रखा जा चुका था। मैं भी चड्ढा के साथ टैक्सी में बैठ गया। मेडम वूल्सले स्टेशन पर ही मिलनेवाली थी। टैक्सी स्टेशन की ओर रवाना हो गयी। मीनाक्षी आज भी नहीं आई थी। मेरे मस्तिष्क में उस समय मीनाक्षी का ही ख्याल था। मैंने प्लेटफार्म पर मीनाक्षी से मिलने की उम्मीद की थी लेकिन वहाँ ऐनी मिली, चार दीवारी *

शोभा मिली, चड्ढा की दूसरी सभी परिचित लड़कियाँ मिलीं, पर मीनाक्षी नहीं मिली।

मैं आखिरी क्षण तक मीनाक्षी की प्रतीक्षा करता रहा। ट्रेन प्लेटफार्म से सरकने लगी, किन्तु मीनाक्षी नहीं आई। चड्ढा आकर मेरे बगल में बैठ गया और ठहाका मार कर बोला, "मैं जानता हूँ, तुम इस वक्त क्या सोच रहे हो ? तुम्हें लाजो का ख्याल है।"

मैंने चड्ढा को घूरा। वह बोला, "मेरे दोस्त, तुम फिक्र न करो, मैं लाजो की समस्या सुलझा कर आया हूँ। मैंने उसकी माँ को पूरे दो हजार रुपये दिये हैं और इस समय लाजो एक बहुत सम्पन्न व्यक्ति के बँगले में ऐश कर रही होगी।....हा....हा....!!"

मैं उसकी बात को समझ न सका। वह बोला, "मैंने लाजो को अच्छे दामों में बेच दिया है।"

मेडम वूल्सले बड़ी उत्सुकता से हमारी ओर देख रही थीं। चड्ढा ने अँग्रेज़ी में उससे कहा, "मेडम, सुन्दर चिड़िया अमरीका में किस भाव से बिकती है ?"

"ओह, बहुत महँगी, बहुत महँगी।" मेडम वूल्सले ने कहा, "अमरीकी लोग बहुत शौकीन होते हैं, सुन्दर चीजों को बहुत पसन्द करते हैं। वहाँ एक चिड़िया की कीमत १०० डालर तक हो सकती है बशर्ते चिड़िया अनोखी हो।"

चड्ढा ने गम्भीरतापूर्वक कहा, "मैंने एक चिड़िया को ५०० डालर में बेचा है।"

"सच ?"

"हाँ, ज्ञानेन्द्र से पूछ लो !"

"ओह, तुमने वह चिड़िया हमको क्यों नहीं बताई? हम खरीदते। कितनी सुंदर रही होगी?"

"हाँ, बहुत सुंदर थी लेकिन तुम उसे नहीं खरीदतीं।"

"क्यों?"

"क्योंकि उसके पर कटे थे।" कहकर चड्ढा बेतहाशा हँसने लगा।

उसकी वह हँसी कितनी भयावह थी? चड्ढा क्या सचमुच इतना हृदयहीन है?—मैंने सोचा, यह ऐसा क्यों हो गया? इसकी वजह शायद वह प्रतिकार की भावना थी जो एक औरत द्वारा तिरस्कृत किये जाने के कारण उत्पन्न हो गयी थी।

मुसावल स्टेशन पर मैंने गाड़ी बदल दी। चड्ढा से विदाई लेने लगा तो वह बोला, "देखो आधी सफर में ही धोखा दे रहे हो। साथ चलो।"

पर मैंने स्वीकार नहीं किया।

लखनऊ से निकले मुझे एक अरसा हो गया था और अब मैं वहाँ शीघ्र ही पहुँच जाना चाहता था। यद्यपि रत्ना का प्रकरण मेरे मस्तिष्क में अभी भी ताजा था, लेकिन मेरे कारोबार का तकाजा था। मैं यदि लखनऊ शीघ्र न पहुँचता तो मेरा कारोबार पूरी तरह चौपट था। दो-एक मुकदमे भी उठ खड़े हुए थे; जिन्हें सम्भालने के लिए मेरी सख्त जरूरत थी। पिछले दिनों लखनऊ से मेरा सम्बन्ध कुछ पत्र-व्यवहार तक ही सीमित रहा था। यह पत्र-व्यवहार कारोबार के सिलसिले में ही हुआ था और मैं अपनी जरूरतों के मुताबिक जब-

तब पैसा मँगाता रहा था। पिछले सप्ताह शर्माजी (जो मेरे कारोबार के प्रमुख व्यवस्थापक थे) का पत्र आया था कि मुझे शीघ्र ही लौट आना चाहिए, अन्यथा फर्म की सारी साख चौपट हो जाएगी। मैंने शर्माजी को भुसावल से तार देकर सूचित कर दिया था। वह मुझे लखनऊ स्टेशन पर मिले।

ये शर्माजी पिताजी के जमाने से ही हमारा कारोबार सम्भालते आ रहे थे। अब बहुत बूढ़े हो गये हैं। काम तेजी से नहीं कर पाते पर ईमानदार बहुत हैं। वह मेरे नौकर नहीं अभिभावक रहे हैं। ट्रेन रात को करीब चार बजे लखनऊ स्टेशन पर पहुँची थी और उस समय वह प्लेटफार्म पर मौजूद थे—यह देख उनके प्रति श्रद्धा से मेरा हृदय भर आया। मुझे देखते ही बोले, "मुझे भरोसा नहीं था, आज भी तुम लौट आओगे।" फिर मुझे बाहों में भरकर वह बोले, "मैं तो समझा था—इस हवाखोरी में तुम्हारी सेहत बदल जाएगी, खूब मोटे हो गये होगे। लेकिन यह क्या, तुम तो सूख कर काँटा हो गये हो, जैसे खाने को न मिला हो। क्या बात है भाई?"

"बाहर मैं हवा खाता रहा और हवा खाकर आदमी मोटा होने से तो रहा!" कहकर मैं हँस पड़ा।

मुझे लखनऊ में आये हुए करीब एक सप्ताह हो गया था। मैं आते ही कारोबार के मामलों में व्यस्त हो गया था। पिछले दो वर्षों में लखनऊ के जीवन में कोई फर्क नहीं पड़ा था—वही रौनक, वही कोलाहल और वही गतिशीलता! यूँ भी एक शहर की जिन्दगी में दो वर्ष की अवधि का क्या असर पड़ता है?

शर्माजी अवकाश चाहते थे। उनका कथन था, "भाई, अब अपना कारोबार तुम खुद सम्भालो। मैं बूढ़ा हुआ, मुझे छुट्टी दो।"

वह मुझे सारी व्यवस्था समझा रहे थे।

इस व्यस्त जिन्दगी में से अवकाश निकालकर मैंने एक पत्र चड्ढा को लिखा क्योंकि मैं उससे वादा कर चुका था कि उससे सम्बन्ध नहीं तोड़ूँगा और पत्र-व्यवहार जारी रखूंगा। मैंने उसे जो पहला पत्र लिखा, उसमें यह बता दिया कि मैं कामिनी यानी उसकी पत्नी को जानता हूँ। मेरा यह व्यवहार एकदम विचित्र था क्योंकि इतने दिन बम्बई में चड्ढा के साथ रहकर कभी उसे यह मालूम न होने दिया था कि मैं उसकी पत्नी से मिल चुका हूँ लेकिन पत्र में मैं वह सतर्कता बरत न सका। इसकी वजह शायद यह थी कि मैं उसे पत्र लिखते समय अधिक भावुक हो गया था। मेरा ख्याल है, ऐसे बहुत व्यक्ति हैं जो प्रत्यक्ष जिन्दगी में बहुत संयत रहते हैं, लेकिन पत्रों में भावुक और कल्पनाशील हो जाते हैं। शायद यह भी हो सकता है कि मैं उस पर इस प्रकार प्रभाव भी डालना चाहता था। मैंने उसे लिखा कि मैंने उससे इसीलिए इतनी घनिष्टता बढ़ायी थी कि मैं उस व्यक्ति को अच्छी तरह देखना चाहता था जिसने कामिनी के साथ अन्याय किया था।

चड्ढा ने इस पत्र का उत्तर लौटती डाक से भेजा। वह पत्र से बहुत क्षुब्ध हो गया था। उसने अपने पक्ष को स्पष्ट करना चाहा था। सम्भवतः वह चाहता था कि मैं कामिनी और उसके बीच मध्यस्थता करूँ। उसके पत्र में भावुकता की गहरी पुट थी। उसने लिखा था—"मैं एक ऐसे समुद्र के बीच किश्ती खे रहा हूँ जिसका कोई ओर-छोर नजर नहीं आ रहा और मेरे हाथ में पतवार भी नहीं है! मैं नहीं जानता, ऐसे समुद्र में मेरी किश्ती कब तक तैर सकती है। किसी भी क्षण तूफान आ सकता है और मेरी किश्ती डगमगा सकती है लेकिन मैं हर तूफान से लड़ूँगा, आखिरी क्षण तक लड़ूँगा।"

चड्ढा के पत्र ने मेरे मानस-तन्तुओं को झकझोर दिया था। मैंने उसके पत्र का उत्तर नहीं दिया लेकिन एक पत्र कामिनी को अवश्य लिखा। यह उसको मेरा पहिला ही पत्र था। पत्र लिखने के बाद उसे मैंने कई बार पढ़ा और मुझे उस पत्र का हर शब्द आज भी याद है। कामिनी, मैंने लिखा था, जीवन के प्रवाह को संकीर्ण दायरों में मत रोको। तुम शायद यह आज नहीं अनुभव कर रहीं लेकिन एक दिन अवश्य अनुभव करोगी और तब तुम कुछ नहीं कर सकोगी। आदमी का जीवन लहरों का जीवन है और लहरों ने भला कब कोई सीमा-रेखा स्वीकार की है? तुम अपने साथ तो अन्याय कर रही हो लेकिन इसके साथ ही तुम एक अन्य व्यक्ति के जीवन को भी नष्ट कर रही हो। अपने लिए न सही लेकिन उस व्यक्ति के लिए तो तुम्हें बदलना चाहिए।....वह पत्र इसी प्रकार था, लेकिन वह कभी भेजा नहीं गया। मैं विश्वास ही न कर सका कि उसके भेजने से भी कोई उद्देश्य पूरा हो सकता है। उस पत्र को न भेजते हुए मैंने यह सोचा कि मैं एक बार "नयी रचना" अवश्य जाऊँगा और कामिनी को समझाने की कोशिश करूँगा।

लखनऊ में मेरा पुराना जीवन लौट आया था। मेरे पुराने परिचितों एवं मित्रों को मेरे लौट आने का ज्ञान हो गया था और वे मुझसे मिलने घर पर ही आने लगे थे।

एक दिन शाम को मैं घर के सामने खड़ा था कि रत्ना के दादा आते दिखे। मैं बगलें झाँकने लगा। दादाजी ठीक मेरे सामने आए। उन्होंने मुझे देखा। मैं घबरा गया। लेकिन उन्होंने दृष्टि फेर ली और तेजी से आगे बढ़ गये। उन्होंने यही भाव दर्शाया कि वह मुझे नहीं जानते। इस घटना से मेरे मस्तिष्क में एक आशंका दूर हो गई। दरअस्ल, इस स्थिति में दादाजी कर भी क्या सकते थे? यदि कोई कार्यवाही करते, तो उनकी भी बदनामी होती।

चड्ढा के पत्र का मैंने उत्तर नहीं दिया था लेकिन शीघ्र ही उसका दूसरा पत्र मुझे मिला जो उसने बम्बई पहुँच कर लिखा था। इस पत्र में उसने शिकायत की थी कि मैं मित्रता के सामान्य तकाजे भी नहीं समझता। मेरा पत्रोत्तर न पाकर वह बेहद झुँझलाया हुआ था। मैं अपने कारोबार में व्यस्त था। मैं चड्ढा के इस पत्र का भी उत्तर न दे सका। उन दिनों मैं दो-एक दीवानी मुकदमों में उलझा हुआ था और इस कारण मैं चड्ढा के पत्र के प्रति सामान्य सौजन्यता का रुख भी रख न सका। सम्भवतः चड्ढा के उस पत्र को मैंने ठीक प्रकार पढ़ा भी न था। वह पत्र काफी लम्बा था, भावुकता से ओत-प्रोत! मैंने उसे अपने व्यक्तिगत कागजातों के साथ रख दिया। उसके बाद उसका कोई पत्र नहीं मिला।

यों एक लम्बा अरसा गुजर गया और इस बीच ऐसी कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई जिसका इस कहानी से सम्बन्ध हो। हाँ, रत्ना को शायद तुम भूले न होगे—वही लड़की जिसके साथ दादाजी मेरा विवाह करना चाहते थे। मुझे वह एक बार दिखी थी। कार्तिक के महीने की एक शाम की बात है। लखनऊ में हल्का जाड़ा पड़ने लगा था। हसरतगंज में चहलकदमी कर रहा था। मैं अकेला था और अपने ही विचारों में खोया हुआ नीची दृष्टि किये धीरे-धीरे एक ओर बढ़ा जा रहा था। लोग आ-जा रहे थे और मैं उस जन-समूह के बीच से यूं गुजर रहा था जैसे उस दुनिया से मैं अलहदा हूँ! एक युवती मेरे पास से निकली। मैंने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया लेकिन वह युवती रुक गयी। मैंने फिर भी उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उसने दूर से ही कहा, "नमस्ते जी।"

मैंने मुड़कर देखा, गोद में नन्हा-सा बच्चा लिये वह मुस्करा रही थी। मैं एकाएक उसे पहिचान नहीं पाया। उसने कहा, "जी, मैं रत्ना हूँ!"

"ओह !" मैंने उसको पहिचानते हुए कहा, "कैसी हो ?"

उस समय वह रत्ना भिन्न ही युवती थी—अब वह वैसी लजालु नहीं रही थी। उसके स्वभाव में भी बहुत परिवर्तन हो गया था, कितनी बात करने लगी थी वह ! बोली, "जी मैं तो आपको देखते ही पहिचान गयी थी, लेकिन आप तो मुझे पहिचान ही न सके।"

"दरअस्ल मैंने तुम्हें देखा नहीं था", मैंने कहा, "और तुम बदल भी तो गयी हो।"

"आप हमारे घर चलिए न। यही पड़ोस में तो रहती हूँ।"

"नहीं आज नहीं, फिर कभी आऊँगा।....यह क्या तुम्हारी बच्ची है ?"

"बच्ची नहीं, बाबा है यह !' फिर वह बच्चे के बारे में हर आवश्यक—अनावश्यक बात बताने लगी। सड़क पर इस तरह एक युवती से बातचीत करते हुए मुझे झिझक महसूस हो रही थी, लेकिन रत्ना बिल्कुल निश्चिन्त थी। आख़िर मैंने कहा, "अच्छा अब मैं चलूँ। फिर मिलूँगा।"

मैं आगे बढ़ गया।

दो-एक बार वह मुझे और दिखी थी लेकिन मैंने यह कोशिश की कि वह मुझे देख न सके। उसके निमंत्रण के बावजूद मैं उसके घर कभी नहीं गया। मुझे यह जानकर सचमुच प्रसन्नता हुई कि वह सुखी है। मुझसे विवाह न हो सकने का उसे कोई खेद न था। उसका विवाह अन्यत्र हो गया था और अब वह एक बच्चे की माँ थी, पूर्णतः तृप्त, संतोषमयी !

मैं जिन दीवानी मामलों में उलझा था, उनका आखिरी फैसला मेरे पक्ष में हो गया था। अब मुझे अवकाश था। मैं अपने व्यक्तिगत कागज-पत्र उलट-पुलट रहा था कि मुझे चड्ढा का वह पत्र दिखा जो

लगभग एक वर्ष पूर्व आया था। मैंने उस पत्र को उठा कर फिर से पढ़ा। उस पत्र में कितनी व्यथा भरी थी, यह मैंने इस बार अनुभव किया। शराब का एक समुन्दर भी मेरे दर्द को डुबा नहीं सकता, उसने लिखा था, मैं अपने को हर तरह से गाफिल रखना चाहता हूँ लेकिन नहीं रह पाता—इस कशमकश का आखिर परिणाम क्या होगा, कौन जाने ?

चड्ढा के इस पत्र को पढ़कर मैं यह सोचने लगा कि आखिर इस समस्या का हल क्या होगा ? क्या ये भटकते हुए तिनके कभी एक मंजिल न पा सकेंगे ? मैं जितना ही इस समस्या पर विचार करता था, उतनी ही वह उलझी हुई मालूम पड़ती थी।

यह सप्ताह भर पूर्व की बात है। रात के ग्यारह बजे थे। मैं सो रहा था कि पोस्टमैन एक तार दे गया। असमय यह तार पाकर मैं हैरत में पड़ गया। वह तार पढ़ा, लिखा था "चड्ढा को तुम्हारी जरूरत है, जल्दी आओ।"

मैं समझ नहीं सका कि उसने तार देकर मुझे क्यों बुलाया है। मैंने फौरन बम्बई जाने की तैयारी कर दी और रात्रि को ट्रेन से ही बम्बई के लिए रवाना हो गया।

बम्बई पहुँचकर मैं उसी होटेल में पहुँचा जिसमें चड्ढा रहता था। होटेल का मैनेजर मुझे पहिचान गया। उसने कहा, "आप अच्छे आ गये, बहुत परेशानी में था।"

"क्यों, क्या बात है ?" मैंने पूछा।

"वह तार मैंने ही आपको भेजा था, मिश्र जी ने खुदकशी कर ली है।"

यह ख़बर मेरे लिए अप्रत्याशित थी। क्षण भर के लिए मैं हक्का-बक्का रह गया। मैनेजर कह रहा था, "हम उसके किसी सम्बन्धी को नहीं जानते। आपका ही पता मालूम था। आपको ही बुलाया।"

चड्ढा जिस कमरे में रहता था, वह कमरा अभी भी उसी दशा में था, जैसा चड्ढा छोड़ गया था। चड्ढा की लाश को पुलिश 'पोस्ट मार्टम' के लिए ले गयी थी। मैंने चड्ढा का कमरा देखने की इच्छा प्रकट की, तो मैनेजर ने मेरे लिए कमरा खोल दिया। मैनेजर को दूसरे काम थे, वह उस कमरे में मुझे अकेला छोकर चला गया।

चड्ढा ने खुदकशी क्यों की—यह एक रहस्य ही था। मैनेजर कोई जवाब न दे सका था। मैं चड्ढा के कमरे की चीजों को इसी दृष्टि से देख रहा था कि शायद कोई कारण मालूम हो सके। कमरे के एक कोने में राख का ढेर रखा था। चड्ढा ने खुदकशी करने के पूर्व अपने सभी पत्र जला दिये थे। पुलिस उस कमरे की तलाशी ले चुकी थी और ऐसा कोई सूत्र नहीं मिला था, जिससे खुदकशी की वजह मालूम हो सकती। मैनेजर ने उस कमरे का सामान इस इरादे से अब तक हटाया नहीं था, कि चड्ढा का कोई उत्तराधिकारी आ जाये तो उसको वह सौंप दिया जाय।

कमरे के कोने में 'रायटिंग मेज' रखी थी। और उस पर एक पेड रखा था। पेड पर आड़ी तिरछी कई लकीरें खिंची थीं जो सख्त हाथ से बनायी गयी थीं। मैं उन लकीरों को ध्यानपूर्वक देखता रहा। मेरा अनुमान है कि वे लकीरें चड्ढा ने ही असंतुलित मनःस्थिति की अवस्था में खींची थीं। मैंने पेड को इस ख्याल से उठाया कि सम्भवतः उसके नीचे कोई महत्वपूर्ण सूत्र मिल सके। मेरा ख्याल गलत नहीं था। एक लिफाफा वहाँ अभी भी मौजूद था। उस लिफाफे पर

पुलिस की निगाह नहीं पड़ी थी और मैं पहिला ही व्यक्ति था जो उस लिफाफे में रखे पत्र को पढ़ सका। वह पत्र चड्ढा ने किसी को भी न सम्बोधित करते हुए लिखा था, इस स्थिति में यही समझना चाहिए कि वह किसी को भी सम्बोधित था। दरअल उसने वह पत्र इस दृष्टि से लिखा था कि उसकी मृत्यु को अन्यथा न समझा जाय और किसी को इस कारण परेशान न होना पड़े। मुझे वह पत्र पुलिस को सौंप देना चाहिए था लेकिन मैंने वैसा नहीं किया। इसकी एक वजह तो यह है कि वह सामान्य कैफियत मात्र नहीं है बल्कि भावावेग में चड्ढा ऐसी बातें भी लिख गया था जिसके कारण पुलिस दूसरे व्यक्ति को परेशान भी कर सकती थी।

यह पत्र मेरी जेब में अभी भी है। लो सुनो—अब से कुछ क्षणों के बाद यह जन इस दुनिया से कूच कर देगा और मेरा कहीं नामो-निशान न रहेगा। वैसे भी जब मैं जीवित था, तब मेरा क्या नामो-निशान था! एक चलती-फिरती बेजान चीज ही तो था मैं। हाँ, अब वह बेजान चीज चल-फिर भी न सकेगी, उसका अस्तित्व सदा···सदा के लिए मिट जाएगा! मैं चाहता हूँ, मेरी मृत्यु के लिए किसी को दोषी न ठहराया जाय, मैं अपनी इच्छा से अब तक जिया हूँ और अब अपनी इच्छा से ही मर रहा हूँ।

मैं क्यों मर रहा हूँ? जिन्दगी सचमुच बहुत प्यारी होती है लेकिन दुनिया में कुछ ऐसे बदनसीब भी होते हैं, जिनके लिए जीना मौत से बदतर होता है। मैं ऐसा ही बदनसीब हूँ। मैं हर क्षण अपने टूटते विश्वासों से लड़ता रहा लेकिन आदमी कब तक लड़ सकता है? जब उसे कहीं भी आशा का प्रकाश दृष्टिगोचर न हो, तब वह किस आधार पर दृढ़ रह सकता है? समाज के कानूनों ने खुदकशी को नाजायज करार दिया है, यह कितना बड़ा विद्रूप है। क्या आदमी को उसकी चार दीवारी *

इच्छा के विरूद्ध जीने के लिए विवश करना उचित है ? खुदकशी से जायज दूसरी चीज न होनी चाहिए ।

मैंने कभी समाज के गलत नियमों को स्वीकार नहीं किया । खुदकशी करते हुए भी समाज के एक गलत कानून को तोड़ रहा हूँ जिसका मुझे कोई अफसोस नहीं है । यह मौत मुझे वह सुख देगी जो जिन्दगी नहीं दे सकती यानी घोर यातनाओं से सदा के लिए मुक्ति ।

यह यातना····इसे मैं कभी ठीक तरह समझ न सका । वह एक भारी शिला थी, जो मेरे हृदय पर सदा मौजूद रहती थी, मैं उसे बहुत प्रयत्न करके भी हटा न सका । यह यातना महसूस ही की जा सकती है, समझी नहीं जा सकती । इसे वही महसूस कर सकता है, जिसने कभी स्वप्न सँजोया है और उसका वह स्वप्न टूटा है । यों स्वप्न नहीं, आदमी टूटता है ! आदमी भी आखिर क्या है ? माँस और रक्त की बूंदों को तो आदमी नहीं कह सकते । स्वप्न और इच्छाएँ ही हैं, इसी लिए आदमी की सांसें और धड़कनें हैं, इसीलिए आदमी का रक्त उष्ण है !

····तो खुदकशी तो मैं आज कर रहा हूँ लेकिन दरअस्ल मेरे ख्वाबों की खुदकशी बहुत पहले हो चुकी थी । वह एक नाजायज हत्या थी और उस नाजायज हत्या के पक्ष में समाज का कानून था—समाज का वह कानून जो आदमी और आदमी में भेद की दीवार को को जायज करार देता है, जो दिल को दिल से अलग करता है । इस कानून का भयकर असर है, भयंकर आतंक है । अच्छे और मजबूत कलेजेवाले भी इससे डरते हैं ! मैं कहता हूँ, इस दुनिया में सचाई कब सचाई हो सकेगी, आदमी कब आदमी हो सकेगा ?····नहीं, मेरी यह खुदकशी कुर्बानी नहीं है, मैं यह ढोंग नहीं करूँगा । मेरी महत्वाकांक्षा भी यह नहीं है । मैं तो इसलिए मर रहा हूँ कि मैं जी नहीं सकता ।

कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जिनका इलाज नहीं होता—बेहतर है, रोगी को गोली मार दी जाय। मैं ऐसी ही रोगी हूँ।.....

इस पत्र में कोई हस्ताक्षर नहीं है, लेकिन मैं चड्ढा की हस्तलिपि को पहिचानता हूँ, यह उसी ने लिखा है।....तो भई, मैं चड्ढा की अंतिम क्रिया करके लौट रहा हूँ। मैं सोचता हूँ—वह मरा क्यों, उसे जीना चाहिए था।

ज्ञानू अपनी बात समाप्त कर चुका था और वह एकटक खिड़की के बाहर देख रहा था। उसने आधी कहानी 'कैफे' में सुनायी थी और बाकी घर आकर समाप्त की थी। वास्तव में यह कहानी उसने कई टुकड़ों में सुनायी थी लेकिन तारतम्य कायम रखने के लिए ही मैंने उन टुकड़ों को एक साथ रख दिया है।

मैंने ज्ञानेन्द्र से पूछा, "अब क्या इरादा है?"

"मुझे एक बार कामिनी से मिलना चाहिए।"

"हाँ, तुम उससे मिलो। मैं जानना चाहता हूँ, इसका उस पर क्या असर होता है?"

"मैं सम्भवतः कल या परसों यहाँ से रवाना हो जाऊँगा। मेरा ख्याल है, कामिनी को अभी मालूम न हुआ होगा कि चड्ढा ने आत्म-हत्या कर ली है।"

चड्ढा तीन दिन मेरे साथ रहा। वह बहुत दिनों बाद मुझसे मिला था और मैंने उसे शीघ्र जाने न दिया।

चौथे दिन जब वह जाने लगा, तो मैंने उससे कहा, "मुझे तुम्हारी इस कहानी में दिलचस्पी हो गयी है, मैं आगे भी जानना चाहूँगा, तुम पत्र लिखना।"

उसने पत्र लिखने का वादा किया।

वह चला गया और मैं उसके पत्र की प्रतीक्षा करने लगा लेकिन उसका पत्र शीघ्र नहीं आया।

मैंने उसके पत्र की उम्मीद छोड़ दी थी और समझ लिया था कि ज्ञानेन्द्र अपना वादा भूल गया होगा अथवा वह कामिनी से मिला ही न होगा।

लेकिन करीब दो सप्ताह बाद मुझे एक 'रजिस्टर्ड' पत्र मिला। यह पत्र ज्ञानेन्द्र ने ही भेजा था। चूँकि यह पत्र इस कहानी का ही एक अंश है, और इस प्रकरण को समझने में मदद करता है, इसलिए मैं उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ।

प्रिय मनुजी !

पत्र बहुत देर से दे पा रहा हूँ, इसके लिए क्षमा क्या माँगूँ ? तुम अपने हो, अपनों से भी भला क्षमा माँगी जाती है ? मैं कल ही लखनऊ लौटकर आया हूँ। अब तक मैं "नयी रचना" में ही था। तुम आश्चर्य करोगे, मैं वहाँ इतने दिन क्या करता रहा ? पहिले जैसा कि मेरा कार्यक्रम था, मैं दूसरे-तीसरे दिन ही "नयी रचना" से चल देना चाहता था, लेकिन परिस्थितियाँ कुछ ऐसी आ गयीं कि मुझे रुकना पड़ा।

तुमसे विदा होकर मैं दूसरे दिन "नयी रचना" पहुँच गया था। इस बीच "नयी रचना" में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए हैं—एकाएक पहिचाना भी नहीं जा सकता कि यह वही पुरानी बस्ती है। स्टेशन से "नयी रचना" तक पक्की सड़क बन गयी है और उस पर ट्रकें व मोटर-गाड़ियाँ रात-दिन दौड़ा करती हैं। मैंने तुम्हें "नयी रचना" के सम्बन्ध में थोड़ी-बहुत जानकारी अपनी बातचीत के दौरान में दी थी और तुम उसके बारे में अधिक जानने के लिए उत्सुक भी होगे। मेरा

ख्याल है, "नयी रचना" हमारे देश में अपने ढंग का अनूठा प्रयोग है। यद्यपि अखबारों में उसका कोई प्रचार नहीं हुआ है, तथापि उसका महत्व तो है ही। दीक्षित जी जानबूझकर "नयी रचना" को प्रचार से परे रख रहे हैं। उनका मत है कि तब वह प्रयोग नहीं, विज्ञापन मात्र बन कर रह जाएगा। शायद उनका विचार ठीक ही हो।···हाँ, तो मैं यह बता रहा था कि इस बीच "नयी रचना" में बहुत परिवर्तन हुए हैं। दीक्षित जी ने वहाँ एक शक्कर का कारखाना खोल दिया है। मैंने तुम्हें बताया था न कि इस क्षेत्र में गन्ना बहुत होता है और शक्कर का कारखाना अच्छी तरह चल सकता है। यह कारखाना छः माह पूर्व ही खोला गया है। इस कारखाने के खुल जाने से "नयी रचना" का रूपरंग ही बदल गया है, उसकी जनसंख्या बहुत बढ़ गयी है। इस कारखाने को खोलने में दीक्षित जी को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी कठिनाई तो आर्थिक थी। दीक्षित जी के पास जो जमा-रोकड़ थी, वह तो जमीन में लग चुकी थी। उससे उन्हें जो लाभ मिलता था, उसे वह उसी में लगाते जाते थे। कारखाने के लिए उन्होंने 'शेयर' जारी किये थे और उन्होंने 'शेयर' का मूल्य बहुत कम रखा। इस कारण अधिकांश शेयर तो नीचे के तबके के लोगों ने ही खरीदे। यह भी एक अभिनव योजना है, इसमें कार्य करनेवाले श्रमिकों को अपने श्रम का पूरा-पूरा लाभ मिलेगा। मुझे इस योजना के सफल होने की उम्मीद है। इसकी वजह यह है कि दीक्षित जी के व्यक्तिगत स्वार्थ कुछ नहीं हैं, उनकी महत्वाकांक्षाएँ भी बहुत सीमित हैं। इस तरह की योजनाएँ उन लोगों के हाथों में पड़कर ही असफल होती हैं. जिनके स्वार्थों की कोई सीमा नहीं होती। "नयी रचना" अब एक मिश्रित बस्ती हो गयी है—उद्योग और कृषि दोनों ही का संगम।

चार दीवारी *

यहाँ आते ही मैं कामिनी से मिला था। शाम का वक्त था। वह अपने क्वार्टर में थी। चड्ढा ने एक बार मुझसे कहा था, "औरत जड़ होती है, जिस जमीन पर बैठ जाती है, वह वहीं बनी रहती है।" कामिनी से इस बार मिलते ही मुझे चड्ढा की वह उक्ति अकस्मात् ही याद हो आई। कितना दुरुस्त कहा था उसने। कामिनी से मैं एक अरसे बाद मिल रहा था, लेकिन वह बिल्कुल नहीं बदली थी—वही चाल-ढाल, वही हल्की मुस्कान। वह मुझे देखकर प्रसन्न हुई थी। उसने कहा, "मैंने कई बार पंडितजी से आपके बारे में पूछा था। आपने जाने के बाद हम लोगों को एक पत्र भी नहीं दिया?"

"लेकिन तुमने भी तो पत्र नहीं लिखा। तुम्हें मेरा पता तो मालूम था।"

"हाँ मालूम तो था पर····पर····आप जानते हैं, मैं पत्र बहुत कम लिखती हूँ।"

"यानी यह अच्छा ही हुआ जो मैंने पत्र नहीं लिखा। पत्रोत्तर तो प्राप्त होता ही नहीं।"

"आप मुझ पर ज्यादती कर रहे हैं। क्या मैं इतनी अशिष्ट हूँ? खैर, छोड़िये भी," उसने कहा, "आज आप बहुत दिनों बाद आये हैं। आज यहीं भोजन कीजिए।"

उस दिन मैं कामिनी के साथ बहुत देर तक रहा लेकिन मैं जो बात उससे कहना चाहता था, वह नहीं कह सका। इसकी वजह यह थी कि कामिनी उस समय बहुत प्रसन्न थी, चड्ढा का समाचार सुनकर जाने उस पर क्या असर पड़ता। जब मैं लौटने लगा, तो कामिनी ने पूछा "आप कब तक रुकेंगे यहाँ?"

मैंने कहा, "शीघ्र ही जाने का इरादा है। शायद सप्ताह के अन्त तक चला जाऊँ।"

"वाह, आप इतनी जल्दी कैसे जा सकते हैं ?" उसने एक खास अंदाज से हाथ हिलाते हुए कहा।

दो-तीन दिन यों ही गुजर गये और मैं जिस कार्य से वहाँ गया था, पूरा न कर सका। उस दिन रविवार था। मैंने तय कर लिया था कि आज कामिनी को चड्ढा का समाचार अवश्य सुना दूँगा। मैं दोपहर को ही प्रशिक्षण विद्यालय पहुँचा। विद्यालय में छुट्टी थी और इस कारण कामिनी अपने क्वार्टर में मिली। मुझे देखते ही कामिनी ने कहा, "देखिए, आज मुझे अवकाश है। क्यों न हम 'पिक्चर' देखने चलें ?"

"पिक्चर" देखने के लिए हमें करीब के शहर जाना पड़ता, इटारसी या होशंगाबाद। मैंने कामिनी से कहा, "वास्तव में मैं आज विशेष उद्देश्य से आया हूँ, मैं तुमसे एक बात कहना चाहता हूँ।"

"बात तो मार्ग में भी हो सकती है।"

"नहीं, जो बात मैं कहना चाहता हूँ, वह ऐसी नहीं जो मार्ग में कही जाय।"

"मुझे आशंका होने लगी है।"

"मजाक मत समझो। मैं एक गम्भीर बात....।"

"अच्छा ठीक है, जो कुछ भी कहना है फौरन कह डालो। फिर हम बाहर चलेंगे।"

आसमान में बादल छा गये थे। हम जिस कमरे में बैठे थे, वहाँ अँधियारा घिर आया था। वातावरण एक प्रकार से मेरे लिए अनुकूल था। मैंने कहा, "मैं अभी बम्बई से लौट रहा हूँ।"

"अच्छा।"

"वहाँ मैं चड्ढा से मिल चुका हूँ।"

"आजकल क्या कर रहे है वह ?"

"उसने खुदकशी कर ली है।"

"आपको वहम हुआ है, वह ऐसा नहीं कर सकता। मैं उसे अच्छी तरह जानती हूँ।"

"नहीं, मैं ठीक ही कह रहा हूँ। मैं अपने हाथों उसकी लाश की अंतिम क्रिया करके आया हूँ।" यह कहकर मैंने उसे वह पत्र दिया जो चड्ढा ने मृत्यु के कुछ क्षण पूर्व लिखा था।

कामिनी ने वह पत्र ले लिया और उसे पढ़ने लगी। मैं उसके चेहरे के भाव को समझने की चेष्टा कर रहा था। पत्र पढ़ने के बाद वह उठी और भीतर के कमरे में चली गयी। मैं उसके लौट कर आने की प्रतीक्षा करने लगा, लेकिन वह बहुत देर तक न आई। वह भीतर क्या कर रही होगी, मैंने सोचा लेकिन कुछ समझ न सका। अब मैं धैर्य न रख सका। मैं भीतर के कमरे की ओर गया। वह चित्रलिखित-सी खिड़की के पास खड़ी थी। उसका चेहरा दूसरी ओर था। ज्योंही मैं उसके करीब पहुँचा, वह एकाएक मुड़ी और तमक कर बोली, "अब आप क्या चाहते हैं?" उसकी आँखों से चिनगारियाँ बरस रहीं थी।

मैं उसके इस आकस्मिक भाव-परिवर्तन से घबरा-सा गया; बोला, "मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझा।"

"देखिये, ढोंग की आवश्यकता नहीं है। आप सीधी बात कहिए। चड्ढा मर गया है और अब आप मुझसे शादी करना चाहते हैं। आप इसीलिए मुझे यह समाचार सुनाने आये हैं। ठीक है न?"

"आप मुझे गलत समझ रही है।" मैंने कहा।

"नहीं, मैं आपको बिल्कुल ठीक समझ रही हूँ। मैं दुधमुँही बच्ची नहीं हूँ। मैं सब समझती हूँ। हाँ, मैं सब समझती हूँ।" इतना

कह कर उसने मुँह फेर लिया और खिड़की की सलाखों से सिर टेक लिया।

मैं दो-एक क्षण उसे देखता रहा, फिर लौट पड़ा।

दूसरे दिन सुबह मुझे कामिनी का एक पत्र मिला। विद्यालय से एक छोकरा वह पत्र लाया था। मैंने वह पत्र खोलकर पढ़ा था, लिखा था—मैं क्षमा चाहती हूँ। मेरा व्यवहार बहुत अशोभनीय था। आप आज मिलिये।—का०

पत्र लाने वाला वह छोकरा उत्तर के लिए रुका हुआ था। मैंने एक चिट में लिखा—सम्भवतः शाम को आ सकूँ।....और वह चिट उस छोकरे को दे दी।

कामिनी का व्यवहार सचमुच मेरे लिए बहुत असह्य था लेकिन जिस परिस्थिति में उसने वैसा किया, उसमें वह अस्वाभाविक नहीं था। अब जब उसने क्षमा माँग ली, तो मैंने उसके असह्य व्यवहार को भूलकर उससे मिलना ही ठीक समझा। उसने मिलते ही कहा, "आप मेरे कल के व्यवहार को भूल जाइये। चड्ढा की मृत्यु ने मुझे एकदम विचलित कर दिया था और मैं अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठी थी।"

मैंने उसे चड्ढा के बारे में वह सब बताया जो उसके साथ बम्बई में रहकर मैंने जाना था।

वह बोली, "मैंने अन्याय किया है! मेरा अपराध अक्षम्य है!!" अब वह एक अबोध बच्चे की तरह व्यवहार कर रही थी; वह बोली, "मैं घोर दम्भी और दुष्ट हूँ।"

मैंने कहा, "इसमें तुम्हारा कुसूर नहीं है। यह तो संयोग की बात है।"

लेकिन इससे वह संतुष्ट नहीं हुई। वह बोली, "कभी-कभी किसी की जिंदगी जो बात नहीं सिखा पाती, वह उसकी मौत सिखा देती है।"

"हाँ", चड्ढा की मौत ने कामिनी की आँखों के सामने से परदा हटा दिया था।

कामिनी उस दिन प्रशिक्षण विद्यालय से अनुपस्थित रही थी। उसने एक लम्बी छुट्टी के लिए आवेदन-पत्र दे दिया था। मैंने पूछा, "छुट्टियाँ कहाँ बिताओगी?"

वह बोली, "अभी तय नहीं किया है।"

"क्या मेरे साथ लखनऊ नहीं चल सकतीं?"

"मैं इस जगह से कहीं भी जाना चाहती हूँ। यहाँ तो मेरा दम घुट जायगा।"

दीक्षित जी को जब मालूम हुआ कि कामिनी मेरे साथ लखनऊ जा रही है तो वह बोले, "विवाह तो यहाँ भी हो सकता है। लखनऊ क्यों जा रहे हो?"

उन्हें कामिनी और चड्ढा की पूरी कहानी मालूम नहीं थी। मैंने उन्हें पूरा मामला बताया तो वह बोले, "ओह, मुझे कामिनी से पूरी सहानुभूति है।"

कामिनी मेरे साथ लखनऊ आ गयी है। उसने चार माह की छुट्टी ली है। चार माह वह यहीं रहेगी। मैं नहीं जानता, कल क्या होगा? कामिनी तो इस समय पतझर की रौनक मात्र है। उसे साथ देखकर कभी-कभी मुझे लगता है, मेरी जिंदगी ने एक मंजिल पा ली है। मैं नहीं जानता, कामिनी भी क्या ऐसा ही सोचती है.....।"

* तुम्हारा,

ज्ञानू

* चार दीवारी

मुद्रक—श्री सत्येन्द्र सिंह कल्याण प्रेस,
सिविल लाइन्स, इलाहाबाद।

मनमोहन मदारिया विगत दस वर्षों से विभिन्न प्रकार के साहित्य के सृजन में प्रवृत्त हैं। मनमोहनजी की कुछ कहानियाँ गुजराती तथा उर्दू में रूपान्तरित हुई हैं। उनकी पुस्तक 'आज की लोक कथाएँ' को भारत-सरकार ने पुरस्कृत किया है। चार-पाँच वर्ष दैनिक अखबारों में सम्पादन-कार्य करने के बाद फ़िलहाल मध्यप्रदेश शासन के अन्तर्गत नव साक्षरोपयोगी साहित्य के प्रणयन में रत हैं।

अन्य पुस्तकें—सूरज की धूप (एकांकी संग्रह) आज की लोक-कथाएँ (मौलिक कथाएँ) भूलभुलैंयाँ (मार्क ट्वेन के प्रसिद्ध उपन्यास का रूपान्तर) गुदड़ी का लाल (बालोपयोगी उपन्यास)।